

हिन्दी साहित्यकी भूमिका

हजारीप्रसाद द्विवेदी शास्त्राचार्य
विश्वभारती, शान्तिनिकेतनके संस्कृत-हिन्दीके अध्यापक

प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, बम्बई नं० ४

संशोधित परिवर्धित
तीसरी आवृत्ति

प्रथम बार फरवरी सन् १९४०
दूसरी बार जून १९४४
तीसरी बार फरवरी १९४८ ई०

107481

मुद्रक—
राघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६, केळेवाडी, गिरगांव, मुंबई नं० ४

स्वर्गीय पितृव्य

पूज्य 'परिहत्तजी' के चरणोंमें

प्रकाशककी ओरसे

जिन बहुतसे विषयोंके संबंधमें गत २५-३० वर्षोंमें दुनियाका दृष्टिकोण बदल गया है, उनमें साहित्यकी आलोचना और उसका इतिहास भी एक है। जिस तरह इतिहासके सम्बन्धमें लोगोंका खयाल था कि उसे बनानेवाले कुछ राजे-महाराजे और सेनानी हुआ करते हैं और उनके नामोंकी सूची तथा उनके पैदा होने, राज करने, जीतने और हारनेकी तारीखोंकी सूची दे देने मात्रसे इतिहास-लेखकके कर्तव्यकी इतिश्री हो जाती है, उसी तरह भाषा और उसके साहित्यके इतिहासके सम्बन्धमें भी था। तब पुराने लेखकों और कवियोंके नामोंका संग्रह करनेमें विशेष परिश्रम किया जाता था और फिर उनकी रचनाओंके अधूरे नमूने तथा तारीफके कुछ शब्द जोड़कर उनका गलत-सही वर्गीकरण कर दिया जाता था।

पर, जैसे जैसे सब विषयोंपर वैज्ञानिक दृष्टिकोण होने लगा है, वैसे वैसे यह बात स्पष्ट होने लगी है कि संदर्भके लिहाजसे ये बातें भले ही जरूरी हों, और इसके लिए संसार उन लेखकोंका सदैव ऋणी रहेगा, पर इनसे किसी भाषाके साहित्यमें वह अन्तर्वृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती जिसके पाये बिना साहित्यका अध्ययन निष्फल हो जाता है। प्रत्येक देशका साहित्य, समाज, संस्कृति और चिन्तन, एक अविच्छिन्न विकास-परंपराका और उसमें होनेवाली क्रिया-प्रतिक्रियाओंका प्रतिबिम्ब हुआ करता है जिसे गति देनेमें भौगोलिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और वैयक्तिक कारण काफी हिस्सा लेते हैं। जब तक इन बातोंका ज्ञान नहीं होता, तब तक साहित्यके इतिहासको पढ़नेका दिक्कतनरीको थाद करनेकी अपेक्षा अधिक मूल्य नहीं हो सकता।

मेरी बहुत समयसे इच्छा थी कि हिन्दी साहित्यके बारेमें इस नवीन दृष्टिकोणसे कोई ग्रन्थ लिखा जाय। इस पुस्तकके द्वारा यह इच्छा कुछ अंशोंमें

पूरी हो रही है और मुझे प्रसन्नता है कि इसे प्रकाशित करनेका सौभाग्य भी मुझे मिल रहा है।

पर यहाँ मेरा यह आशय नहीं है कि जिन विद्वानोंने हिन्दी साहित्यके इतिहासपर कलम उठाई है, उन्होंने नवीन दृष्टिकोणका सर्वथा विचार ही नहीं किया। नहीं, बहुत कुछ किया है। पर इस पुस्तकमें उस दृष्टिकोणको जिस स्पष्टता और योग्यतासे व्यक्त किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

दूसरे, यह पुस्तक हिन्दी साहित्यका इतिहास नहीं है और न यह ऐसे किसी इतिहासका स्थान ही ले सकती है। आधुनिक इतिहासोंको यह अधिक स्पष्ट करती है और भविष्यमें लिखे जानेवाले इतिहासोंकी मार्गदर्शिका है। इसीमें इसका महत्त्व है।

निवेदन

‘ विश्वभारती ’ के अहिन्दी-भाषी साहित्यिकोंको हिन्दी साहित्यका परिचय करानेके बहाने इस पुस्तकका आरंभ हुआ था। बादमें कुछ नये अध्याय जोड़कर इसे पूर्ण रूप देनेकी चेष्टा की गई है। मूल व्याख्यानोंमेंसे ऐसे बहुतसे अंश छोड़ दिये गये हैं जो हिन्दी-भाषी साहित्यिकोंके लिए अनावश्यक थे। फिर भी इस बातका यथासंभव ध्यान रखा गया है कि प्रवाहमें बाधा न पड़े। इसके लिए कभी कभी कोई कोई बात दो जगह भी आ जाने दी गई है। ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्यके सम्पूर्ण भारतीय साहित्यसे विछिन्न करके न देखा जाय। मूल पुस्तकमें बार बार संस्कृत पाली, प्राकृत और अपभ्रंशके साहित्यकी चर्चा आई है, इसी लिए कई लंबे परिशिष्ट जोड़कर संक्षेपमें वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्योंका परिचय करा देनेकी चेष्टा की गई है। रीति-काव्यकी विवेचनाके प्रसंगमें (पृ० ११६ पर) कविप्रसिद्धियों और स्त्री-अंगके उपमानोंकी चर्चा आई है) मध्यकालकी कविताके साथ संस्कृत कविताकी तुलनाके लिए आवश्यक समझकर परिशिष्टमें इन दो विषयोंपर भी अध्याय जोड़ दिये गये हैं।

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने जिस प्रेम और उत्साहसे इस ग्रंथको छपा है उसके लिए लेखक उनका सदा कृतज्ञ रहेगा। प्रेमीजीने प्रेम-पूर्वक इसे सुंदर रूपमें उपस्थित ही नहीं किया है, आवश्यक स्थानोंपर परिवर्तन-परिवर्धनकी भी बातें सुझाकर पुस्तकको अधिक दृढियुक्त होनेसे बचा लिया है।

बौद्ध साहित्यवाले अध्यायमें प्रो० विंटरनिट्स, पं० विधुशेखरशास्त्री और श्री वेंणुमाधव बाबुआके लेखोंसे बहुत सहायता मिली है। पुस्तक जब प्रेसमें थी तब श्री भद्रन्त आनन्द कौसल्यायनने भी इसके एक अंशकी आलोचना करके लेखककी सहायता की है। शान्तिनिकेतनके पाली और संस्कृतके अध्यापक पाण्डित-प्रवर श्री नित्यानन्द विनोद गोस्वामीने इसे देख लिया था और आवश्यक सुधार सुझाये थे। इन बातोंके लिए लेखक सभीका अत्यन्त कृतज्ञ है।

सन्त-साहित्यके संबंधमें लिखते समय आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन महाशयसे अनेक स्थानोंपर बहुत सहायता मिली है। लेखकके ऊपर उनका स्नेह इतना अधिक रहा है कि इस स्थानपर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेमें भी उसे बहुत संकोच हो रहा है।

अनेक विद्वानोंकी लिखी हुई अनेक पुस्तकोंसे अनेक सहायतायें मिली हैं। पुस्तकमें ही यथा-स्थान उनका उल्लेख कर दिया गया है। वस्तुतः इस पुस्तकमें जो कुछ भी अच्छा है वह अन्य विद्वानोंकी चीज़ है, लेखकका काम संग्रह करना ही अधिक रहा है। सबके प्रति वह अपनी कृतज्ञता निवेदन करता है।

इजारीप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

१ हिन्दी साहित्य : भारतीय चिन्ताका स्वाभाविक विकास

हिन्दी साहित्यकी उपेक्षा—इस्लामका प्रवेश—दो हजार वर्ष पहलेका भारतीय साहित्य—हिन्दी भाषाका क्षेत्र—भिन्न प्रकृतियोंका संघर्ष—बौद्ध धर्मका हिन्दी क्षेत्रमें अस्तित्व—बौद्ध प्रभावका अर्थ—शंकर-कुमारिलद्वारा बौद्ध धर्मके निष्कासनका अर्थ—महायान मतकी अन्तिम परिणति जाड़ू-टोटकोंमें—बंगाल और नेपालमें बौद्ध धर्मके अन्तिम दिन—उड़ीसाका महिमा-सम्प्रदाय—भीम भोईकी कहानी—नाथपंथका आविर्भाव—काशी और मगधमें बौद्ध धर्मके अन्तिम दिन—हीनयान और महायान—वज्रयान और सहजयान—महायान मतकी विशेषता—उसका हिन्दू धर्ममें घुलना—ईसाईयोंका भक्ति-भावनापर अनुमान द्वारा आरोपित महायानप्रभाव—बौद्ध धर्मका लोकप्रवण होना—प्रस्थानत्रयीके आधारपर शास्त्रीय चर्चा—टीका-काल—निबंध-ग्रंथ—उनके बननेका कारण—राजपूताने और पंजाबकी अवस्था—निष्कर्ष । पृष्ठ १-१५

२ हिन्दी साहित्य : भारतीय चिन्ताका स्वाभाविक विकास

अपभ्रंश कविताके प्रोत्साहनका प्रश्न—चार प्राकृत भाषायें—वस्तुतः दो ही—शौरसेनी और मागधी बोलनेवालोंकी प्रकृतियाँ भिन्न भिन्न हैं—अपभ्रंशका साहित्य—काव्य-मीमांसाकी गवाही—राजा भोज और मुंजकी अपभ्रंश कविता—क्या अपभ्रंश लोकभाषा थी ?—आभीरोंकी भाषा—आभीरोंका राज्य-विस्तार और उनके साथ अपभ्रंश कविताकी प्रतिष्ठा—अपभ्रंशभाषाविषयक विचारोंका निष्कर्ष—आधुनिक भाषाओंमें तत्सम शब्द कैसे आये—प्राचीन हिन्दी कविताके छह अंग—दो भिन्न जातिकी कविताओंका विकास—इसमें विजातीय विकास बिल्कुल ही नहीं । पृष्ठ १६-२९

३ सन्त-मत

योगी जाति—कबीरका इससे संबंध—निर्गुणमतका बौद्धमत और नाथपंथसे संबंध—कबीरके जातिविरोधी विचार विदेशी नहीं हैं—सहज्यान साधकों और अश्वघोषके जाति-प्रथाके विरोधी विचार—नाथपंथियोंका अक्खड़पन और कबीरका फक्कड़पन—दृष्टकूट और उलटवँसियों—सन्धा भाषा—साखी क्या है—निर्गुणिया भक्तों और पूर्ववर्ती साधकोंमें साम्य—सहज पंथ—शून्यवाद—निर्गुण मत—सबद, सुरति और निरति—सीमा-असीमका द्वंद्व—लौ शब्दका अर्थ—कबीरके रूपक—निर्गुण मत प्रभावशाली क्यों हुआ ?

... ... पृष्ठ ३०-४३

४ भक्तोंकी परम्परा

भारतीय साहित्यमें अभिनव तत्त्व—आलवार भक्त—दक्षिणके वैष्णव आचार्य—श्रीसम्प्रदाय—रामानंदकी भक्त-परम्परा, निर्गुण और सगुण—ब्राह्म सम्प्रदाय—रुद्र सम्प्रदाय—वल्लभाचार्यकी शिष्यपरम्परा—सनकादि सम्प्रदाय—गुरु नानक और अन्य भक्त-गण—सूफी साधनाका आविर्भाव—पद्मावतकी छन्दःप्रथा भारतीय है।

... ... पृष्ठ ४४-५९

५ योगमार्ग और सन्तमत

परमपद-प्राप्तिके तीन मार्ग—सहज्यान, तंत्रमत, नाथपंथ और निर्गुण मतके सिद्धोंकी अभिन्नता—योगियोंकी करामात—महा-कुण्डलिनी शक्ति—षट्चक्र—इडा-पिंगला-सुषुम्ना—नाद और बिन्दु—स्फोट—षट्कर्म—गोरखधंदा—सद्गुरुकी महिमा—कबीरदास और योगमार्ग—कबीरकी सहज समाधि और उनधुन्ती रहनी—सहज योग—वीरसाधना।

... ... पृष्ठ ६०-६९

६ सगुण-मतवाद

शास्त्रीय मतकी जानकारीकी आवश्यकता—भागवत पुराण—भागवतकी रचनाके काल और देश—अवतार क्या है—लीलावतार चौबीस—अगुण और सगुण—अवतारका मुख्य हेतु—भगवान्की

माधुरी—रागातुगा और वैष्णो भक्ति—दस निषिद्ध आचार—दो मूल तत्त्व—पाँच त्याज्य कर्म—प्रेमोदय क्रम—स्वभाव और रति—निर्विशेष और सविशेष भगवद्रूप—शान्त स्वभावके भक्त—दास्यके सख्यके—उज्ज्वल रस—दर्पणकी उपमा—तुलसीदासका मत—कृष्णभक्तों और राम-भक्तोंके विशेष दृष्टिकोण । ... पृष्ठ ७०-८४

७ मध्ययुगके सन्तोंका सामान्य विश्वास

भक्त और भगवानका संबंध—ब्रह्मा, परमात्मा और भगवान्—भगवान्के साथ लीला—भक्त और भगवान्की समानता—प्रेम ही परम पुरुषार्थ—भक्तिकी महिमा—नाम-माहात्म्य—रामसे बड़ा नाम—आत्मसमर्पण । ... पृष्ठ ८५-९४

८ भक्तिकालके प्रमुख कवियोंका व्यक्तित्व

कबीर—नानक—सूरदास—नन्दनदास—तुलसीदास—दादू—सुन्दरदास—रजब । ... पृष्ठ ९५-११०

९ रीति-काव्य

दो भिन्न प्रकृतिके आर्य—ऐहिकतापरक काव्यका आविर्भाव—हालकी सत्तसई—हालका काव्य—हूण और आभीर—रासो आदिमें कल्पित कथार्ये—अपभ्रंशसे दो प्रकृतिकी कविताओंका विकास—अलंकारशास्त्रमें दो धारायें—ध्वनिसम्प्रदाय—वृहत्त्रयी—रीति-कालीन हिन्दी कविता—यह लोक साहित्य नहीं और शास्त्रीय काव्य भी नहीं है—स्तोत्रसाहित्य—गोपी और गोपालोंके प्रेम-काव्य—राधा-कृष्णकी प्रेम-लीलाका साहित्यमें प्रयोग—गौड़ीय वैष्णवोंके नायिका-भेदसे रीति काव्यके नायिकाभेदकी तुलना—वात्स्यायनका काम-सूत्र—स्वाधीन चिन्ताके प्रति अवज्ञाका भाव । ... पृष्ठ १११-१५

१० उपसंहार

भारतीय साहित्यके दो मोटे मोटे विभाग—कवि और कारु—वैदिक साहित्यका परिचय—जन्मांतर-न्यवस्था और कर्मफलवादका साहित्य-पर प्रभाव—काव्यका उद्देश्य—लोकोत्तर आनन्दकी प्राप्ति कैसे होती

है—प्रतिभा और अभ्यास—ग्राम-गीतोंका महत्व—भारतीय साहित्य कहाँ श्रेष्ठ है—उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें हिन्दी कविकी मनोवृत्ति—नवयुग—अद्भुत प्रगति—साहित्यके बाह्य अन्तर रूपमें परिवर्तन—इस युगकी कमी—जीवित जातिसे सम्पर्क—साधनालब्ध दृष्टिका परित्याग—अति आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियाँ—निवैयक्तिक दृष्टिकोण—चार श्रेणीके कवि—कविताकी भाषा और शैलीमें परिवर्तन—कवि और पाठकके बीचमें व्यवधानका कारण—वैयक्तिकता और भावुकताका हास—भविष्यकी ओर संकेत । १९२० का युगान्तरकारी वर्ष—आर्य समाजका प्रभाव—आत-वाक्योंकी प्रमाणता—पुरानेके प्रति मोह और नवीनके प्रति आकर्षण—द्विवेदी, हरिऔध और गुप्त—स्वतंत्र उद्भावना शक्ति—पुराने संस्कारोंके प्रति विद्रोह—आलोचक—शुक्लजी—प्रेमचन्दका उदय—प्रसाद और पन्त—अन्य कवि—मानवताके प्रति सहानुभूति—प्रसिद्ध पत्रकार—नये नाटककार—द्वितीय महायुद्धके बादकी प्रवृत्तियाँ—ग्रन्थसम्पादन, संशोधन और संचय—इतिहासके क्षेत्रमें ओझाजी,—दर्शन-विज्ञान—साहित्य—आशाजनक भविष्य

पृष्ठ १२६-१५२

परिशिष्ट

२ संस्कृत साहित्यका संक्षिप्त परिचय

संस्कृतमें लिखे हुए ग्रन्थ—इन ग्रंथोंका वर्गीकरण—ये कहाँपर लिखे गये हैं—वैदिक साहित्य—वेदाङ्ग साहित्य—पुराण-इतिहास—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र—दर्शन—बौद्ध साहित्य—आयुर्वेद और अन्य उपवेद—अलङ्कृत काव्य, गद्य, नाटक, और कहानियाँ—नाटक और काव्यके विवेचनात्मक ग्रंथ—संकीर्ण काव्य—धर्म और दर्शनपर टीकार्य—निबंध—तंत्रग्रंथ, भक्तिसाहित्य—पत्थरों और ताम्रपत्रोंका साहित्य—कुटुम्ब विषय—अन्तिम बात

पृष्ठ १५५-१७२

२ महाभारत क्या है ?

महाभारतका नाम—उसका विषय—तीन संस्करण—मूल कहानीमें परिवर्तन—महाभारतीय कथाकी लोकप्रियता—उज्ज्वल चरित्रोंका वन—इसका वर्तमान रूप—इसका काल । ... पृष्ठ १७३-१८०

३ रामायण और पुराण

रामायणका प्रभाव—इसका वर्तमान आकार—इसके भेद—महाभारत और रामायणकी काल-गत तुलना—रामकी कथाका समय—जैनों और बौद्धोंमें रामायणकी कथा—पुराण और उपपुराण—पुराण शब्दका अर्थ—पुराणोंका प्रभाव—इनकी प्राचीनता—इनके लक्षण—अठ्ठाई पुराणोंके नाम—पुराण-रचना-संबंधी पौराणिक कहानी—व्यासजी और पुराण—पुराणोंमें प्रक्षेप—पुराणोंके अलग अलग परिचय । पृष्ठ १८१-१८७

४ बौद्ध-साहित्य

बुद्धदेवके धर्मप्रचारका समय—संगीतियों—पाली साहित्यका विभाजन—त्रिपिटक—विनय-पिटक—सुत्त-पिटक—अभिधम्म-पिटक—अनुपालि या अनुपिटक ग्रंथ—सिंहलीय परम्परा—सिंहलके भिक्षुओंके ग्रंथ । पृष्ठ १८८-१९९

५ बौद्ध संस्कृत-साहित्य

बौद्ध संस्कृत साहित्यके मूल—नेपाल और तिब्बतमें उपलब्ध साहित्य—हुएन्त्सोंगके संग्रहीत ग्रन्थ—त्रिपिटकसे भिन्न साहित्य—महावस्तु और ललितविस्तर—अवदानसाहित्य—महायान सूत्र—प्रज्ञापारमितायें—अवतंसक ग्रंथ—सद्धर्मालंकार सूत्र—कुल महायानी आचार्य—माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी और तंत्र—उपसंहार ।

... पृष्ठ २००-२१२

६ जैन साहित्य

जैन साहित्यका आरंभ—श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायोंका उद्भव—साहित्यका संकलन—अंग और उपांग—प्रकीर्णक—छेद-

सूत्र—मूल-सूत्र—आगमके अन्तर्गत अन्य ग्रंथ—अंगवाह्य ग्रंथ—
दिगम्बरीका वर्गीकरण—मीमांसकी द्वारा आक्रमण और प्रत्याक्रमण
—टीकापरम्परा—जैन रामायण—जैन महाभारत—जैन पुराण—
प्रबंध-ग्रंथ—कथाग्रंथ—काव्य-नाटक—स्तोत्र—नीतिग्रंथ—सैद्धा-
न्तिक उक्तियाँ—देशी भाषाओंका साहित्य । पृष्ठ २१३-२२४

७ कवि-प्रसिद्धियाँ

कवि-समय और काव्य-समय—वृक्षदोहद—इसका मूल—गंधर्व,
अप्सरायें और कवि-प्रसिद्धियाँ,—अशोक—कर्णिकार—कामदेव—
कुन्द—कुमुद—कुरवक—कोकिल—चकोर—चक्रवाक—मिथुन—
चन्दन—चम्पक—तिलक—भमेरु—नीलोत्पल—पद्म—प्रियंगु—
भूर्जपत्र—मन्दार—मयूर—मालती—मुक्ता—रंग—राजहंस—
बकुल—शेफालिका—सहकार—समानार्थक—संकीर्ण कविप्रसिद्धियाँ
पृष्ठ २२५-२५९

८ स्त्री-रूप

स्त्रीका रूप—मुखमण्डल, केश, माँग, ललाट, कपोल, नेत्र, अपांग,
भ्रू, नासा, अधर, दन्त, जिह्वा, वाणी, कंठ, ग्रीवा, श्रवण, बाहु, हाथ,
अंगुलि, नख, वक्षःस्थल, नाभि, त्रिवली, रोमाली, पृष्ठ और
कटि—जघन, नितंब, उरु, चरण, अंगुष्ठ, नख, नूपुरध्वनि, गमन ।

पृष्ठ २६०-२६७

हिन्दी साहित्यकी भूमिका

हिन्दी साहित्य :

भारतीय चिन्ताका स्वाभाविक विकास

१

आजसे लगभग हजार वर्ष पहले हिन्दी साहित्य बनना शुरू हुआ था । इन हजार वर्षोंमें भारतवर्षका हिन्दीभाषी जन-समुदाय क्या सोच-समझ रहा था, इस बातकी जानकारीका एकमात्र साधन हिन्दी साहित्य ही है । कमसे कम भारतवर्षके आधे हिस्सेकी सहस्रवर्ष-ग्यापी आशा-आकांक्षाओंका मूर्तिमान् प्रतीक यह हिन्दी साहित्य अपने आपमें एक ऐसी शक्तिशाली वस्तु है कि इसकी उपेक्षा भारतीय विचार-धाराके समझनेमें घातक सिद्ध होगी । पर नाना कारणोंसे सचमुच ही यह उपेक्षा होती चली आई है । प्रधान कारण यह है कि इस साहित्यके जन्मके साथ ही साथ भारतीय इतिहासमें एक अभूतपूर्व राजनीतिक और धार्मिक घटना हो गई । भारतवर्षके उत्तर-पश्चिम सीमान्तसे विजयदत्त इस्लामका प्रवेश हुआ जो देखते देखते इस महादेशके इस कोनेसे उस कोनेतक फैल गया । इस्लाम जैसे सुसंगठित धार्मिक और सामाजिक मतवादसे इस देशका कभी पाला नहीं पड़ा था, इसीलिए इस नवागत समाजकी राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक गति-विधि इस देशके ऐतिहासिकका सारा ध्यान खींच लेती है । यह बात स्वाभाविक तो है, पर उचित नहीं है । दुर्भाग्यवश, हिन्दी साहित्यके अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करनेका भार जिन

विद्वानोंने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिन्दी साहित्यका सम्बन्ध हिन्दू जातिके साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमीको दो ढंगसे सोचनेका मौका देते हैं—एक यह कि हिन्दी साहित्य एक इतदरप पराजित जातिकी सम्पत्ति है, इसलिए उसका महत्त्व उस जातिके राजनीतिक उत्थान-पतनके साथ अङ्गारङ्ग-भावसे संबद्ध है, और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरन्तर पतनशील जातिकी चिन्ताओंका मूर्त प्रतीक है जो अपने आपमें कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। मैं इन दोनों बातोंका प्रतिवाद करता हूँ, और अगर ये बातें मान भी ली जायें तो भी यह कहनेका साहस करता हूँ कि फिर भी इस साहित्यका अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि दस सौ वर्षोंतक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्योंकी बात भी मानवताकी प्रगतिके अनुसंधानके लिए केवल अनुपेक्षणीय ही नहीं बल्कि अवश्यज्ञातव्य वस्तु है। ऐसा करके इस्लामके महत्त्वको भूल नहीं रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्यका बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।

अपनी बातको ठीक ठीक समझानेके लिए मुझे और भी हजार वर्ष पीछे खूँट जाना पड़ेगा। आजके हिन्दू समाजमें आजसे दो हजार वर्ष पहलेसे लेकर हजार वर्ष पहले तकके हजार वर्षोंमें, जो ग्रंथ लिखे गये, उनकी प्रामाणिकतामें चादमें चल्कर कभी कोई सन्देह नहीं किया गया और उन्हें ही यथार्थमें हिन्दू धर्मका मेरुदण्ड कह सकते हैं। मनु और याज्ञवल्क्यकी स्मृतियाँ, सूर्यादि पाँचों सिद्धान्त ग्रंथ, चरक और सुश्रुतकी संहितायें, न्यायादि छहों दर्शन-सूत्र, प्रसिद्ध पुराण, रामायण और महाभारतके वर्तमान रूप, नाट्य-शास्त्र, पतंजलिका महाभाष्य आदि कोई भी प्रामाणिक माना जानेवाला ग्रंथ क्यों न हो, उसकी रचना, संकलन या रूप-प्राप्ति सन् ईसवीके दो-ढाई सौ वर्ष इधर-उधरकी ही है। उसके बादकी चार-पाँच शताब्दियों तक इन ग्रंथोंके निर्दिष्ट आदर्शका बहुत प्रचार होता रहा और इसी प्रचार-कालमें संस्कृत साहित्यके अनमोल रत्नोंका प्रादुर्भाव हुआ। अश्वघोष, कालिदास, भट्टबाहु, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, कुमारिल, शंकर, दिङ्नाग, नागार्जुन आदि बड़े बड़े आचार्योंने इन शताब्दियोंमें उत्पन्न होकर भारतीय विचार-धाराको अभिनव समृद्धिसे समृद्ध किया। वेद अब भी आदरके साथ मान्य समझे जाते थे पर साधारण जनतामें उनकी महिमा नाम-मात्रमें ही प्रतिष्ठित रही।

अगर आप भारतवर्षके मान-चित्रमें उस अंशको देखें जिसकी साहित्यिक भाषा हिन्दी मानी जाती है तो आप देखेंगे कि यह विशाल क्षेत्र एक तरफ तो उत्तरमें भारतीय सीमाको छुए हुए है जहाँसे आगे बढ़नेपर एकदम भिन्न जातिकी भाषा और संस्कृतिसे सम्बन्ध होता है और दूसरी तरफ पूर्वकी ओर भी भारतवर्षकी पूर्व सीमाओंको बनानेवाले प्रदेशोंसे सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिणमें भी वह एक ही संस्कृति, पर भिन्न प्रकृतिके प्रदेशोंसे सटा हुआ है। भारतवर्षका ऐसा कोई भी प्रान्त नहीं है जो इस प्रकार चाँसूली प्रकृति और संस्कृतिसे घिरा हुआ हो। इस घिरावके कारण उसे निरन्तर भिन्न भिन्न संस्कृतियों और भिन्न भिन्न विचारोंके संघर्षमें आना पड़ा है। पर जो बात और भी ध्यान-पूर्वक लक्ष्य करनेकी है वह यह है कि यह मध्यदेश वैदिक युगसे लेकर आज तक अतिशय रक्षणशील और पावित्र्याभिमानी रहा है। एक तरफ तो भिन्न विचारों और संस्कृतियोंके निरन्तर संघर्षने और दूसरी तरफ रक्षण-शीलता और श्रेष्ठत्वाभिमानने इसकी प्रकृतिमें इन दो बातोंको बद्ध-मूल कर दिया है—एक अपने प्राचीन आचारोंसे चिपटे रहना पर विचारमें निरन्तर परिवर्तित होते रहना, और दूसरे धर्मों, मतों, सम्प्रदायों और संस्कृति-योंके प्रति सहनशील होना। अब देखा जाय कि हिन्दी साहित्यके जन्म होनेके पहले कौन-कौनसे आचार-विचार या अन्य उपादान इस प्रदेशके समाजको रूप दे रहे थे।

इस बातका निश्चित प्रमाण है कि सन् ईसवीकी सातवीं शताब्दीमें युक्त-प्रान्त, बिहार, बंगाल, आसाम और नेपालमें बौद्ध धर्म काफी प्रबल था। यह उन दिनोंकी बात है जब इस्लाम धर्मके प्रवर्तक हज़रत मुहम्मदका जन्म ही हुआ था। बौद्ध धर्मके प्रभावशाली होनेका सबूत चीनी यात्री हुएन्त्सांगके यात्रा-विवरणमें मिलता है। यह भी निश्चित है कि वह बौद्धधर्म महायान सम्प्रदायसे विशेष रूपसे प्रभावती था क्योंकि उत्तरी बौद्ध धर्म यदि हीनयानीय शाखाका भी था तो भी महायान शाखाके प्रभावसे अछूता नहीं था।* सातवीं शताब्दीके बाद उस धर्मका क्या हुआ, इसका ठीक विवरण हमें नहीं मिलता पर वह एकाएक गुम तो नहीं ही हुआ होगा। उस युगके दर्शन-ग्रन्थों, कान्यों, नाटकों आदिसे स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ईसाकी पहली सहस्राब्दीमें वह इन प्रान्तोंसे एकदम लुप्त नहीं हो गया था। इधर हालमें जो सब प्रमाण संग्रहीत

*देखिए, परिशिष्ट : बौद्धोंका संस्कृत-साहित्य।

किये जा सके हैं उनसे इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि मुसलमानी आक्रमणके आरंभिक युगोंमें भारतवर्षसे इस धर्मकी एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन प्रदेशोंके धर्ममत, विचार-धारा और साहित्यपर इस धर्मने जो प्रभाव छोड़ा है, वह अमिट है।

लेकिन जब मैं ऐसा कहता हूँ तो 'प्रभाव' शब्दका जो अर्थ समझता हूँ उसको ध्यानमें रखना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि हिन्दीभाषी प्रदेशका जनसमुदाय इन दिनों बौद्ध था। वस्तुतः सारा समाज किसी भी दिन बौद्ध था या नहीं, यह प्रश्न काफी विवादास्पद है। कारण यह है कि बौद्ध धर्म संन्यासियोंका धर्म था, लोकके सामाजिक जीवनपर उसका प्रभुत्व कम ही था। जिस प्रकार आजके नागा सम्प्रदायको देखकर कोई विदेशी यात्री कह सकता है कि भारतवर्षमें नागा सम्प्रदाय खूब प्रबल है, परन्तु यह बात सच होते हुए भी इसकी सच्चाईके साथ सामाजिक जीवनका गहरा सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार चीनी यात्रीके यात्रा-विवरणका भी विचार होना चाहिए। हम उस विवरणसे इतना ही मान सकते हैं कि लोग बौद्ध संन्यासियोंका आदर-सत्कार करते थे और उनके ही ढंगपर अपने-आपके विषयमें, अपनी दुनियाके विषयमें और लोक-परलोकके विषयमें सोचने लगे थे। हमारे सामने आज भी भारतीय गृहस्थ परस्पर-विरोधी मतोंके माननेवाले साधुओंकी तथा भिन्न भिन्न सम्प्रदायके भिन्न भिन्न प्रकृतिके देवताओंकी पूजा करता है। द्रुपत्सांगके युगमें यही अवस्था रही होगी। इससे यह समझना सरल है कि उन दिनों हिन्दू समाजमें लोग बौद्ध भिक्षुओंके उपदिष्ट देवताओंकी, कल्याण-कामनासे पूजा करते थे और उनके बताये हुए ढंगसे जप आदि भी करते थे। इस प्रकार पुत्रतदर-पुत्रतसे होता आता था और लोगोंके मनमें इन देवताओं और पूजापद्धतियोंके प्रति एक अपनापनका भाव आ गया था जो बौद्ध मतोंके उठ जानेके बाद भी उठ नहीं गया; बल्कि समाजमें ज्योंका त्यों रह गया। पर चूँकि बौद्ध संन्यासी ही उसका असली तत्त्व समझाया करते थे इसलिए उनके अभावमें वह नाना विकृत रूपोंमें और कभी कभी नाम-रूप बदलकर मूलरूपमें ही चलने लगा। 'प्रभाव' पढ़नेका मेरी दृष्टिमें यहाँ यही अर्थ है।

बौद्ध धर्मका इस देशसे जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वैदान्तिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं। इस कथनको ऐतिहासिक दृष्टिसे तो असत्य सिद्ध किया जा सकता है—लोगोंने

ऐसा करनेकी चेष्टा भी की है, पर इसका अन्तर्निहित अर्थ एकदम सत्य है। ये आचार्यगण दार्शनिक पंडित थे, इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता अनुपम थी। इसलिए इनके द्वारा बौद्ध धर्मके निर्वासन और निरसनका यही अर्थ हो सकता है कि बुद्धिजीवियों और ऊपरले स्तरके लोगोंके मनपरसे बौद्धधर्मके दार्शनिक युक्ति-जालकी आस्था उठ गई। ये लोग असलमें बौद्ध तत्त्ववादके कायल थे, भक्तिवादके नहीं। पर साधारण जनताका तत्त्ववादसे कोई संबंध नहीं था। ऐसा हो सकता है कि राजा लोग जब बौद्ध तत्त्ववादके कायल नहीं रहे तब बड़े बड़े बौद्ध मठ, जो अधिकांशमें राजकीय सहायतासे चल रहे थे उठ गये होंगे। पर उन्होंने निचले स्तरके आदमियोंमें जो प्रभाव छोड़ा था, उसमें केवल नाम-रूपका परिवर्तन हुआ, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकराचार्यके तत्त्ववादकी पृष्ठ-भूमिमें बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदल कर रह गया। बड़े बड़े बौद्ध मठोंने शैव मठोंका रूप लिया और करोड़ोंकी संख्यामें जनता आज भी उन मठोंके महन्तोंकी पूजा करती आ रही है। वस्तुतः हर्षके बाद उत्तर भारतमें (विशेष कर इन प्रदेशोंमें) बहुत दिनोंतक बौद्ध धर्मको कोई राजकीय सहारा नहीं मिला। न मिलनेके कारण या तो बौद्ध संन्यासियोंको उन स्थानोंपर चला जाना पड़ा जहाँ उन्हें संरक्षण मिल सकता था, या निचले स्तरके लोगोंको अधिकाधिक आकृष्ट करना पड़ा। आठवीं-नवीं शताब्दीमें बौद्ध महायान सम्प्रदाय लोका-कर्षणके रास्ते बड़ी तेजीसे बढ़ने लगा। वह तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, ध्यान, चारणा* आदिसे लोगोंको आकृष्ट करता रहा। यद्यपि 'सद्धर्म-पुण्डरीक' आदि प्राचीन महायानीय ग्रंथोंमें ही इन बातोंके जीवाणु वर्तमान थे पर इन शताब्दियोंमें वह इस रास्ते बड़ी तेजीसे मुड़ पड़ा। महायान शाखाकी अन्तिम परिणति अभिचारादिमें ही हुई।

आठवीं शताब्दीमें बंगालमें पाल-राज्य कायम हुआ। यही वंश भारतवर्षमें बौद्ध धर्मका अन्तिम शरणदाता रहा। यहाँ आकर और नेपाल और तिब्बतमें जाकर बौद्ध धर्मका संबंध तंत्रवादसे और भी अधिक बढ़ गया। जिन दिनों हिन्दी साहित्यका जन्म हो रहा था उस दिनों भी बंगाल और मगध तथा उड़ीसामें बड़े बड़े बौद्ध विहार विद्यमान थे जो अपने मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटनकी विद्याओंसे और नाना प्रकारके रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानोंसे जन-समुदायपर अपना प्रभाव

* देखिए, परिशिष्ट : बौद्धोंका संस्कृत-साहित्य।

फैलाते रहे। नेपालमें तो अब भी बौद्ध धर्म किसी न किसी रूपमें प्राप्त हो जाता है पर अत्यन्त हालमें बंगाल, उड़ीसा और मयूरभंजकी रियासतमें बौद्ध ग्रन्थोंके दल पाये गये हैं। कहा जाता है कि जगन्नाथका मंदिर पहले बौद्धोंका था, बादमें बुद्धमूर्तिके सामने किसी वैष्णव राजाने एक दीवार खड़ी कर दी और इन दिनों जिसे जगन्नाथ ठाकुरकी मूर्ति कहते हैं वह भी बुद्ध देवके अवस्थि रखनेके पिठारेके सिवा और कुछ नहीं है। उड़ीसाका महिमा सम्प्रदाय, बंगालके रमाई पंडितका शून्यपुराण, वीरभूममें पाई जानेवाली धर्म-पूजा आदि बातें आज भी इन प्रदेशोंमें बौद्ध धर्मके भग्नावशेष हैं।

महिमा सम्प्रदायकी कहानी बड़ी मनोरंजक है। सन् १८७५ ई० में इस सम्प्रदायके एक अन्ध मनुष्यको, जिसका नाम 'भीम भोई' था, बुद्धदेवने स्वप्न दिया कि वह उनके धर्मका प्रचार करे। इस कार्यके पुरस्कार-स्वरूप बुद्धदेवने भीम भोईकी आँखें पहले ही ठीक कर दीं। देखते देखते हजारोंकी संख्यामें उसके शिष्य जुट गये। भीम भोईने हजारों शिष्योंके साथ जगन्नाथके मंदिरपर आक्रमण कर दिया; उद्देश्य था, दीवार तोड़कर बुद्धमूर्तिको उद्धार करना। पर उड़ीसाके राजाने उसके आक्रमणको रोक लिया और भीम भोईको दबा लिया। आतंकित होकर उसके शिष्य उड़ीसाके दूर दूरके कोनोंमें जा छिपे और अब भी किसी न किसी रूपमें अपनी गुरु-परंपरा रखते आ रहे हैं। इन बातोंसे यह अनुमान आसानीसे किया जा सकता है कि हिन्दी साहित्यके जन्म-कालके समय बाद्ध धर्म एकदम नष्ट तो हो ही नहीं गया था, जीवित जोशके साथ वर्तमान भी था। जनसाधारणके साथ उसका योग तो था ही। मगध और बंगालमें मुसलमानी धर्मके आक्रमणसे बौद्ध और हिन्दू मन्दिर समान भावसे आक्रान्त हुए; मंदिरों, मठों और विहारोंको समान भावसे ध्वंस किया गया। फिर भी पाराणिक धर्म नहीं बच सका। क्योंकि पहलेका सम्बन्ध उन दिनों समाजसे था और दूसरेका केवल विहारोंसे।

नेपालमें इस समय जो बौद्ध धर्म वर्तमान है, वह बहुत कुछ उसी ढंगका होना चाहिए जैसा किसी समय वह बंगाल और मगधमें रहा होगा। नवीं और दसवीं शताब्दियोंमें नेपालकी तराइयोंमें शैव और बाद्ध साधनाओंके सम्मिश्रणसे नाथ-पंथी योगियोंका एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह संप्रदाय काल-क्रमसे हिन्दीभाषी जनसमुदायको बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था। कबीरदास,

सूरदास और जायसीकी रचनाओंसे जान पड़ता है कि यह संप्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा। सन् १३२४ में तिरहुतका एक राजा मुसलमानोंसे खदेड़ा जाकर नेपालमें जा पहुँचा। वह अपने साथ अनेक पंडितों और ग्रंथोंको भी लेता गया। इसका राज्य वहाँ बहुत दिनों तक स्थिर तो नहीं रह सका पर इसके द्वारा ब्राह्मण धर्मका जो बीजारोप हुआ वह आगे चलकर बहुत विकासशील सिद्ध हुआ। परवर्ती राजा जयस्थितिने इन्हीं ब्राह्मणोंकी सहायतासे समाजका पुनः संगठन किया। इस प्रकार नेपालके राजघरानेके प्रयत्नसे गुरुखा लोग, जो वहाँके प्रधान जातिदे थे, अपने प्राचीन धर्मको फिरसे ग्रहण करनेमें समर्थ हुए पर नेवारी लोग बौद्ध ही बने रहे। इस नेपाली बौद्ध धर्मका एक प्रधान रूप है 'आदि बुद्ध' की पूजा। आदि बुद्ध बहुत कुछ हिन्दुओंके भगवानके समान ही है। यह लक्ष्य करनेकी बात है कि नेपालके ब्राह्मण बौद्ध धर्मको शत्रु-दृष्टिसे नहीं देखते। नेपालमाहात्म्यके अनुसार जो बुद्धकी पूजा करता है वह शिवकी ही पूजा करता है। इसी प्रकार नेपाली बौद्धोंका स्वयंभु-पुराण पशुपतिनाथकी पूजाको बुद्धकी ही पूजा मानता है। बहुत संभव है कि काशी और मगधके प्रान्तोंमें भी अन्तिम दिनोंमें बौद्ध और पौराणिक धर्मोंका पारस्परिक संबंध ऐसा ही रहा हो।

अब, इन सारी बातोंको ध्यानसे देखें तो मालूम होगा कि विराट् बौद्ध-संप्रदाय पहले दो खण्डोंमें बँट गया—हीन-यान और महायान। हीन-यान संप्रदायवाले अपनेको शुरूमें ही हीन-यान (= छोटे रथ) के आरोही नहीं कहते थे; अहीरन भी जब अपने दहीको खट्टा नहीं कहती तो वे बेचारे अपने ही रथको भला हीन-रथ कैसे कह सकते थे! पर महायानवालोंने इस शब्दका ऐसा प्रचार किया कि हीन-यानवालोंको भी अन्तमें उसे मान लेना पड़ा*। महायान अर्थात् बड़ी गाड़ीके आरोहियोंका दावा है कि वे नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े सबको अपनी विशाल गाड़ीमें बैठाकर निर्वाण तक पहुँचा सकते हैं, जहाँ हीन-यान (या सँकरी गाड़ी) वाले केवल संन्यासियों और विरक्तोंको ही आश्रय दे सकते हैं। महा-यानके इस नाममें ही जनसाधारणके साथ उनके गंभीर योगका आभास मिलता है। आगे चलकर फिर महा-यानमें भी कई टुकड़े हो गये। सबसे अन्तिम टुकड़े हैं वज्रयान और सहजयान, जो अपनी गाड़ीको सचमुच इतनी मजबूत और सहज बना सके कि उनमें पाण्डित्य और

* परिशिष्टमें बौद्ध साहित्यका परिचय पढ़िए।

कृच्छ्रसाध्यताका अर्थात् कष्ट-पूर्ण व्रत संयम आदिका कोई अंग रहा ही नहीं। इस प्रकार महायान संप्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय, सन् ईसवीके आरम्भसे ही लोकमतकी प्रधानता स्वीकार करता गया। यहाँ तक कि अन्तमें जाकर लोकमतमें घुल मिल कर लुप्त हो गया। सन् ईसवीके हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी सम्प्रदायों, शास्त्रों और मतोंकी हुई। मुसलमानी संसर्गसे उसका कोई सम्पर्क नहीं है। हजार वर्ष पहलेसे वे ज्ञानियों और पंडितोंके ऊँचे आसनसे नीचे उतर कर अपनी असली प्रतिष्ठा-भूमि लोकमतकी ओर आने लगे। उसीकी स्वाभाविक परिणति इस रूपमें हुई। उसी स्वाभाविक परिणतिका मूल प्रतीक हिन्दी साहित्य है। मैं इसी रास्ते सोचनेका प्रस्ताव करता हूँ। मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिन्ताओंके मान-दण्डसे लोक-चिन्ताको नहीं मापना चाहता बल्कि लोक-चिन्ताकी अपेक्षामें उन्हें देख-नेकी सिफारिश कर रहा हूँ।

थोड़ी देरतक महायान संप्रदायकी चर्चा और कर ली जाय क्योंकि हमारे आलोच्य साहित्यपर इसका गहरा प्रभाव है। फिर लगे हाथों संक्षेपमें स्मार्त आचार्योंकी चिन्ता-धाराकी परिणतिपर विचार कर लिया जाय। यह दूसरी बात भी बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि महायान संप्रदायका हमारे आलोच्य साहित्यपर जितना कुछ भी प्रभाव क्यों न हो, वह सामाजिक आचार-विचारोंका मेरुदण्ड नहीं है। मेरुदण्ड तो ये स्मार्त विचार ही हैं। फिर एक एक करके शैव वैष्णव आदि संप्रदायोंकी बात करना भी आवश्यक हो जायगा।

महायान संप्रदायकी निम्नलिखित सात विशेषताओंकी चर्चा पंडितोंने की है।

(१) सर्वभूत-हितवादमें विश्वास रखना और समस्त जगतके प्राणियोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करना; स्वयं कष्ट सहकर भी, नरक भोग कर भी अन्य जीवोंके उद्धारार्थ प्रयत्न करना।

(२) बोधिसत्त्वोंमें विश्वास रखना और यह भी विश्वास करना कि मनुष्य अपने सक्रमा और भक्तिके द्वारा बोधिसत्त्वत्व प्राप्त कर सकता है। “हरिको भजै सो हरिको होई।”

(३) बुद्धोंके लोकोत्तरत्वमें विश्वास। यह भी विश्वास करना कि बुद्धगण काल और देशकी सीमामें परिन्यास हैं।

(४) जगत्को सार-शून्य और नश्वर मानना।

(५) कर्मकाण्डकी बहुलता और मंत्र-तंत्रमें विश्वास ।

(६) संस्कृतके ग्रंथोंमें विश्वास, पालीमें नहीं ।

(७) बुद्धमें और विशेष करके अमिताभ बुद्धमें विश्वास और उनके नाम-जपसे निर्वाण-प्राप्तिमें विश्वास ।

कहना व्यर्थ है कि ये सभी बातें उत्तर भारतके हिन्दू धर्ममें रह गई हैं । आगे चलकर हम यह भी देख सकेंगे कि हिन्दी साहित्यके प्रायः सभी अंग इनमेंके एकाधिक सिद्धान्तोंसे प्रभावित थे । इन तथा अन्य महायानीय सिद्धान्तोंकी यदि हीनयानीय सिद्धान्तोंसे तुलना की जाय तो इस विषयमें कोई संदेह नहीं रह जायगा कि महायान हीनयानकी अपेक्षा अधिक मानवीय, लोकगम्य, सहज और समन्वयमूलक है । वह प्राचीन बौद्ध धर्मकी भाँति केवल यही नहीं कहता कि सब कुछ छोड़कर चले आओ, बल्कि यह सलाह देता है कि सब कुछ लिये हुए भी तुम परमपद तक पहुँच सकते हो ।

अब प्रश्न यह है कि ये बातें महायान सम्प्रदायने हिन्दू समाजमें प्रवेश कराई या हिन्दू समाजने महायानमें ? दोनों बातें संभव हैं और असलमें जीवित समाजोंके भावोंके आदान-प्रदान इस प्रकारसे होते हैं कि उनके बीच लकीर खींच कर बता सकना कि यह अमुककी देन है और यह अमुककी लेन है, सदा कठिन हुआ करता है । फिर भी पंडितोंने कुछ बातोंको निश्चित रूपसे महायानियोंकी देन माना है । देन नहीं बल्कि भन्नावशेष कहना ठीक होगा । सन् ईसवीकी पहली शताब्दीमें महायान प्राचीन बौद्ध धर्मसे अलग हो गया । उसी समयसे वह सुदूर पूर्व और मध्य एशियासे अपना सम्बन्ध बढ़ाता गया । इन स्थानोंमें वह अपने विशुद्ध रूपोंमें न रह सका । वहाँसे उसने बहुत-सी नई बातें सीखीं और उनको वह कभी कभी इस देशमें परिचित करानेमें भी समर्थ हुआ । जो बातें उसने उस युगके समाजके निचले स्तरसे सीखीं उनमें भी नई बातें प्रविष्ट कराई । कहते हैं, तंत्रमें चीनाचार आदि आचार स्पष्ट ही विदेशी हैं । हालहीमें एक पंडितने तान्त्रिकोंके 'आगम' शब्दकी जाँच करके यह निष्कर्ष निकाला है कि ये बाहरसे आये हुए आचार हैं जो नामसे ही प्रकट हैं । नाम-जपका पुराना सबूत भारतवर्षके प्राचीन शास्त्रोंमें न मिलता हो सो बात तो नहीं, पर मध्य युगके समाजमें इसका जो रूप रहा वह निश्चयपूर्वक महायान सम्प्रदायसे ही अधिक सम्बद्ध था । इन बातोंके अतिरिक्त बौद्ध तत्त्ववाद, जो निश्चय ही बौद्ध आचार्योंकी चिन्ताकी देन था, मध्ययुगके हिन्दी

साहित्यके उस अंगपर अपना निश्चित पद-चिह्न छोड़ गया है जिसे 'सन्त साहित्य' नाम दिया गया है। इसका प्रमाण हमें आगे चल कर मिलेगा। इसी प्रकार शास्त्र-सापेक्ष भाव-धाराके भक्तोंके अवतार-वादका जो रूप है, उसपर महायान सम्प्रदायका विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं है कि प्राचीन हिन्दू-चिन्ताके साथ उसका सम्बन्ध एकदम हो ही नहीं, पर सूरदास, तुलसी, दास आदि भक्तोंमें उसका जो स्वरूप पाया जाता है वह उन प्राचीन चिन्ता-ओसे कुछ ऐसी भिन्न जातिका है कि एक जमानेमें ग्रियर्सन, केनेडी आदि पंडितोंने उसमें ईसाईपनका आभास पाया था। उनकी समझमें नहीं आ सका था कि ईसाई धर्मके सिवा उस प्रकारके भाव और कहींसे मिल सकते हैं। लेकिन आज शोधकी दुनिया बदल गई है। ईसाई धर्ममें जो भक्तिवाद है वही महायानियोंकी देन सिद्ध होनेको चला है, क्योंकि ऐसे बौद्धोंका अस्तित्व एशियाकी पश्चिमी सीमामें सिद्ध हो चुका है, और कुछ पंडित तो इस प्रकारके प्रमाण पानेका दावा भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसा मसीह भारतके उत्तरी प्रदेशोंमें आवे थे और बौद्धधर्ममें दीक्षित भी हुए थे। लेकिन ये अवान्तर बातें हैं। मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि बौद्ध धर्म क्रमशः लोक-धर्मका रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिन्दी साहित्यमें पाते हैं। इतने विशाल लोक-धर्मका थोड़ा पता भी यदि यह हिन्दी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।

इधर यदि हम संस्कृत साहित्यकी ओर दृष्टि फेरें तो देखेंगे कि सन् ईसवीके बादका संस्कृत साहित्य उत्तरोत्तर पण्डितोंकी चीज बनता गया। इस साहित्यमें लोक-जीवनसे दूरे हुए एक कल्पित जीवन और कल्पित संसारका आभास मिलता है। महाभारत या रामायण जिस प्रकार लोक-जीवनसे प्रत्यक्ष भावसे जड़ित थे, उत्तरकालीन काव्य-ग्रंथ वैसे नहीं रहे। ज्ञान, जो किसी समय प्रत्यक्ष साधना और तन्मय जीवनसे उपलब्ध हुआ था, उत्तरकालीन टीकाकारों और ग्रंथकारोंके लिए बहसकी चीज रह गया। असलमें जो कुछ लिखा गया उसमें बुद्धि और प्रतिभाका तो काफी विकास हुआ परन्तु यह निश्चित रूपसे विश्वास कर लिया गया कि यह ज्ञान प्राचीनोंके ज्ञानसे निम्न कोटिका है। इसी मनोवृत्तिका परिणाम है कि प्रत्येक वैष्णव आचार्यको अपने मतवादकी पुष्टिके लिए प्रस्थान-त्रयी अर्थात् बादरायणका ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीताका सहारा लेना पड़ा। यह एक न्यापक

भाव फैला हुआ-सा जान पड़ता है कि बिना इनका सहारा लिये कोई मतवाद टिक ही नहीं सकता। ईसाकी पहली सहस्राब्दीमें ही इस मनोभावने जड़ जमा ली थी और वह उत्तरोत्तर बढ्मूल होता गया। यहाँ यह स्मरण करा रखना अप्रसंगिक नहीं होगा कि यह चिन्ता-पारतन्त्र्य मुसलमानी धर्मके जन्मके बहुत पहले सिर उठा चुका था और परवर्ती हिन्दी साहित्यमें इसके उग्र रूपको देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासनकी प्रतिक्रिया थी; बिल्कुल गलत होगा। असलमें, वह कोई और कारण होना चाहिए जिसने भारतीय चिन्तामें इस चिन्ता-पारतन्त्र्यको जन्म दिया, विदेशी आक्रमण नहीं।

जिस युगसे हमारा विशेष सम्बन्ध है उस युगका पाण्डित्य प्रत्यक्ष जीवनसे और भी दूर हटता जा रहा था। जहाँ छठी-सातवीं शताब्दीके पंडितोंके आत्मोपलब्ध ज्ञान और प्रत्यक्ष जीवनमें वेदोपनिषद् आदि दो-एक ग्रंथ ही ही मध्यवर्तीका काम करते थे वहाँ दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीके पंडितोंके लिए सभी आचार्य और उनके ग्रंथ भी बीचमें आ जुटे। इस प्रकार जिन दिनों बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर लोक-धर्ममें घुल-मिल रहा था, उन्हीं दिनों ब्राह्मण धर्म उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था। मूल ग्रंथोंकी टीकायें,—उनकी भी टीकायें, इस प्रकार कभी कभी छः छः आठ आठ पुरत तक टीकाओंकी परम्परा चलती गई। लेकिन ये टीकायें सर्वत्र चिन्ता-पारतन्त्र्यकी निदर्शक नहीं हैं, कभी कभी स्वतंत्र मतोंके प्रतिपादनार्थ भी लिखी गई थीं। शुरू शुरूमें तो यह बात और भी सच थी। ऐसी टीकाओंको असलमें टीका न कह कर स्वतंत्र ग्रंथ ही कहना चाहिए। प्राचीन ग्रंथोंसे उनको जोड़ रखनेका मतलब यही होता था कि अपने मतको आर्ष और श्रुतिसम्मत सिद्ध किया जा सके। ये टीकायें साधारणः भाष्य कहलाती थीं; पर इन भाष्योंकी टीकायें और उनकी भी जो टीकायें लिखी गई उनमें क्रमशः स्वाधीन चिन्ता कम होती गई। उनका उद्देश्य उपजीव्य ग्रंथोंकी अच्छी-बुरी समस्त युक्तियोंका तर्क-बलसे समर्थन करना हो गया। अब, यह निश्चित है कि ग्यारहवीं शताब्दीमें इन ग्रंथों, भाष्यों, टीकाओं और उनकी टीकाओंकी परम्परा बहुत अधिक बढ़ गई थी। यह आगे चलकर और भी बढ़ती चली गई। यहीं इसने एक नया रास्ता पकड़ा। टीका-परंपराकी इस नई शाखाको हम निबंध-साहित्य कह सकते हैं *। ग्यारहवीं शताब्दीके बाद

* 'टीका' शब्द यहाँ बहुत व्यापक अर्थमें लिया गया है। असलमें सभी प्रकारकी

निबन्ध-ग्रंथोंकी परम्परा बढ़ने लगी। हमारे आलोच्यका इस शाखासे विशेष सम्बन्ध है।

धर्मशास्त्रीय वचनोंकी छान-बीन करके लोक-जीवनके व्यवहारके लिए उपयोगी विधियोंकी व्यवस्था देना निबन्ध-ग्रंथोंका कार्य है। कौन-सा व्रत या उपवास कब करना चाहिए, किसे करना चाहिए, किसे नहीं करना चाहिए, विवाहादि अनुष्ठानोंकी छोटी-मोटीसे लेकर बड़ी बड़ी विधियोंका निर्देश, उनके अधिकारी या अनधिकारीका निर्णय आदि लोक-जीवनसे सम्बद्ध छोटी मोटी सैकड़ों बातोंका विचार, विश्लेषण और व्यवस्थापन इन ग्रंथोंमें किया गया है। आधुनिक युगके पाठकको जो बात नितान्त अकिञ्चित्कर और निष्प्रयोजन जान पड़ सकती है उसके लिए इन ग्रंथोंके पन्नेके पन्ने रंगे हैं। यह बात यहाँ प्रत्यक्ष है कि शास्त्र लोक-जीवनके साथ घनिष्ठ रूपसे जड़ित है। सिन्धसे लेकर आसाम तक इन निबन्धोंका प्रचलन है। ऐसा समय तो कभी नहीं रहा होगा जब विवादास्पद विषयोंपर पण्डितोंकी सम्मतिवाँ न ली जाती हों, और इसीलिए ऐसा भी समय नहीं होगा जब इन निबन्धोंकी जातिके ग्रन्थ न लिखे गये हों—वस्तुतः इस जातिके ग्रंथ सन् ईसवीसे भी बहुत प्राचीन कालमें बनने लगे थे, परन्तु, इस युगकी अन्यान्य बातोंको जिस प्रकार इन निबन्धोंने छाप लिया वैसा कभी नहीं हुआ होगा। यह स्मरण रखनेकी बात है कि हिन्दू धर्म ईसाइयोंके धर्मकी भौति बड़े बड़े मठों या चर्चों द्वारा नियन्त्रित नहीं था (जैसा कि पोपोंके रोमन-चर्चद्वारा ईसाई धर्म नियं-

व्याख्याओंको टीका नहीं कहते। कमसे कम शब्दोंसे जब अधिकसे अधिक अर्थ प्रकट करनेकी कोशिश की जाती है तो इन छोटे छोटे वाक्योंकी सृज कहते हैं। जिसमें सृजोंके सार नभे बताये जाते हैं उसे वृत्ति कहते हैं। सूत्र और वृत्तिके परीक्षणको पद्धति कहते हैं। सूत्र और वृत्तिमें बताये गये सिद्धान्तोंपर आक्षेप करके फिर उनका समाधान करके उन सिद्धान्तोंको स्पष्टीकरणको भाष्य कहते हैं। भाष्यके बीचमें जो विषय प्रकृत हो उसे त्यागकर और दूसरे उसीसे सम्बद्ध किन्तु अप्रकृत विषयोंका जो विचार किया जाता है उसे समीक्षा कहते हैं। इन सबमें बताये गये विषयोंका टीका या उल्लेख जिसमें हो उसे टीका कहते हैं। सिद्धान्त-भाष्यका जिसमें प्रदर्शन हो उसे कारिका कहते हैं और मूल ग्रन्थके कथनके औचित्य-विचारकी वार्तिक कहते हैं। इनमें सृज वार्तिक और कारिकाके सिवा बाकी जितने हैं उन सबको यहाँपर एक साधारण शब्द 'टीका' द्वारा प्रकट किया गया है।

होता था) और न मुसलमानी धर्मके समान सामाजिक भावभावके आदर्श-द्वारा सुसंगठित ही था । असलमें जिस अर्थमें मुसलमान या ईसाई धर्म धर्म हैं वह अर्थ हिन्दू धर्मके लिए कभी लागू हो ही नहीं सकता । दक्षिणमें शंकराचार्य और माध्वाचार्यके सम्प्रदायोंके सुसंगठित मठ हैं पर उनका भी प्रभाव उस जातिका नहीं है जैसा रोमन चर्चका । हिन्दुओंकी प्रत्येक जातिको अपने आचार-विचारको स्वतंत्र भावसे पालन करनेकी स्वाधीनता थी । अगर समूची समूची जाति ब्राह्मण-श्रेष्ठत्वको स्वीकार कर लेती थी तो चातुर्वर्ण्यमें अत्यन्त निचले स्तरमें, और कभी कभी गुणकर्मनुसार ऊपरले स्तरमें भी, उसकी गणना कर ली जाती थी । हिन्दुओंकी ये जातियाँ आचार-विचारमें ब्राह्मणों तथा अन्य श्रेष्ठ जातियोंकी नकल किया करती थीं और समय समयपर ऊँची पदवी भी पा जाया करती थीं । हिन्दुओंमें धर्म-परिवर्तन करानेकी कोई प्रथा नहीं थी पर इतिहाससे ऐसी सैकड़ों प्रकारकी जातियाँ खोज निकाली जा सकती हैं जो समूह रूपमें एक ही साथ ब्राह्मण धर्ममें शामिल हो गई थीं । यह एक प्रकारसे सामूहिक धर्म-परिवर्तन ही होता था । तो जो बात मैं कहने जा रहा था वह यह है कि बौद्ध धर्मके लोप होनेके बाद ऐसी बहुत-सी जातियाँ ब्राह्मण धर्मके अन्दर आ गई थीं, जो बौद्ध प्रभावके अन्दर होते हुए भी अपने आचार-विचारमें स्वतंत्र थीं । इन जातियोंके आनेके कारण बहुतसे व्रत, पूजा पार्वण आदि इस धर्ममें आ चुके जिनकी प्राचीन ग्रंथोंमें कोई व्यवस्था न थी । पुराणोंसे इस बातका समाधान किया गया था । इन जातियों और इनकी समस्त आचार-परम्पराको धीरे धीरे इन टीकाओं तथा ऋषियोंके नामपर लिखे गये नये नये स्मृति और पुराण-ग्रन्थोंमें अन्तर्भुक्त किया गया । वह कार्य इतना जटिल और विशृङ्खल हो गया होगा कि पंडितोंको उसके नियमन और व्यवस्थापनकी जरूरत पड़ी होगी । निबन्ध ग्रंथ उसीके परिणाम हैं । इस प्रकार ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दीके पंडितोंको लोक-जीवनकी ओर झुकनेको बाध्य होना पड़ा था । एक विचित्र प्रवृत्ति इन निबंधोंमें स्पष्ट ही दिखाई देती है । स्तूपाकार शास्त्र-वचनोंके ढेरमेंसे वही वाक्य ग्रामाण्य मान्य लिये जाते हैं जिनका उपयोग प्रचलित लोक-व्यवहारके समर्थनमें हो सके । बाकी वाक्योंको 'ननु' कह कर पूर्व पक्षमें फेंक दिया जाता है । इसका परिणाम यह हुआ है कि बंगालमें जो वाक्य पूर्व-पक्षका है वही महाराष्ट्रमें उत्तर-पक्षका, और उड़ीसामें जो वाक्य उत्तर-पक्षका है वही काशीमें पूर्वका । फिर ऐसे विशेष वचन भी बहुत

अधिक हैं जो किसी एक ही प्रदेशमें माने जाते हैं। इन सब बातोंसे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उस युगका पाण्डित्य लोक-जीवनकी ओर झुकने लगा था। हम देख चुके हैं कि बौद्ध पंडित भी लोक-मतकी ओर नत हो चुके थे और वे स्मार्त पंडित भी उसी ओर झुके। परन्तु दोनोंका झुकाव दो दिशाओंमें हुआ। एक निकृष्ट कोटिके जादू, टोना, टोटका आदिकी ओर झुके और दूसरे लोक-जीवनके अकिञ्चितकर निरर्थक आचार-न्यवहारकी ओर। इस प्रकार स्मार्त और बौद्ध दोनों ही हिन्दी साहित्यके जन्म-कालके समय लोक-मतका प्राधान्य स्वीकार कर चुके थे।

• हम उत्तर और पूर्वकी अवस्था देख चुके, मध्यदेशकी अवस्थासे भी परिचित हो गये, अब पश्चिम सीमाके यशस्वी प्रदेश राजपूताने और पंजाबकी अवस्था देखी जाय। राजपूतानेके प्यारण कवियोंके मुखसे और नाना स्थानोंके लेखों आदिसे सच्ची परिस्थिति हमें मालूम होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इधर प्राचीन क्षत्रिय-दर्प और वीरता ज्योंकी त्यों वर्तमान थी। पर बहुलांशमें अपने दुर्बल संगठन और अयथागामी कुलाभिमानके कारण छोटे छोटे राजा और सामन्त आपसमें सदा जुझते रहे। इस वीरत्व-परम्परा, कुलाभिमान और युद्ध-शौण्डताका अतिरंजित वर्णन कवियों और चारणोंने किया है। जैसे जैसे संस्कृत भाषा लोक-भाषासे दूर हटती गई तैसे तैसे सामान्तोंके यशोगानके लिए वह अनुपयुक्त सिद्ध होती गई। हिन्दू राजाओंके दरबारमें अब भी संस्कृत कवियोंका मान था पर साथ ही प्राकृत और अपभ्रंशके कवियोंको भी स्थान मिलने लगा। संस्कृतकी कवितायें लोक-भाषाके द्वारा बोधगम्य कराई जाती थीं और इस प्रकार मूल कविताका स्वाद कुछ बाधा पाकर राजा और सामन्त तक पहुँचता था; पर अपभ्रंशकी कविता सीधे असर करती थी। ऐसे राजा बहुत कम हुए जो संस्कृत अच्छी तरह समझ सकते हों। इसका अवश्यमावी परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश भाषा कविताका राजानुमोदित वाहन हो गई। एक बार राजाश्रय पाकर वह बड़ी तेजीसे चल निकली। यहाँ भी हम देखते हैं कि लोक-भाषाकी ओर झुकाव स्वाभाविक रूपसे ही हो चला था, किसी बाहरी शक्तिके कारण नहीं।

ऊपरकी बातोंसे अगर कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता हो तो वह यही हो सकता है कि भारतीय पाण्डित्य ईसाकी एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषाके क्षेत्रोंमें स्वभावतः ही लोककी ओर झुक गया था। यदि अगली

शताब्दियोंमें भारतीय इतिहासकी अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लामका प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी ब्रह्म इसी रास्ते जाता। उसके भीतरकी शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकासकी ओर ठेले लिये जा रही थी। उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था। प्रोफेसर हेवेलने अपने 'हिस्ट्री आफ आर्यन रूल'में लिखा है कि मुसलमानी सत्ताके प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राजकाजसे अलग कर दिये गये इसलिए दुनियाकी झंझटोंसे छुट्टी मिलते ही उसमें धर्मकी ओर जो उनके लिए एकमात्र आश्रय-स्थल रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ। यह ग़लत न्याख्या है। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि हमारे पाठक आगेके सहस्राब्दकी साहित्यिक चेतनाको जातिकी स्वाभाविक चेतनाके रूपमें देखें, अस्वाभाविक अधोगतिके रूपमें नहीं। अवश्य ही जो अंश उसमें अस्वाभाविक भावसे बाधग्रस्त और विकृत है, उसे मैं भूल जानैको नहीं कहता। पर हिन्दी साहित्यके अध्ययनसे उन्हें विश्वास हो सकेगा कि यह सारा सहस्राब्दकका साहित्य भावी इतिहासमें बौद्ध या अन्य किसी भी कालके इतिहाससे कम महत्वपूर्ण नहीं है।

यह बहुत प्रसिद्ध बात है कि हिन्दी साहित्यके जन्मके बहुत पहले अपभ्रंश या लोकभाषामें कविता होने लगी थी। परन्तु कई लोग इस बातमें सन्देह ही प्रकट करते हैं कि हिन्दुओंके राजत्व-कालमें उसे कोई प्रोत्साहन भी मिलता था। ऐसे लोगोंका भ्रम बहुत ही निराधार युक्तियोंपर अवलंबित है जिसका निरास बहुत कठिन नहीं है। परन्तु उक्त कार्य करनेके पूर्व इस विषयका विचार कर लेना आवश्यक है कि अपभ्रंश है क्या वस्तु। असलमें बहुतसे लोगोंमें अपभ्रंश भाषाके विषयमें बहुत-सी भ्रान्त धारणाएँ हैं। मैं अगर इस बातको ठीक ठीक अपने रास्ते समझानेका प्रयत्न करूँ तो मुझे फिर कुछ पहलेसे ही आरंभ करना पड़ेगा। उसके लिए अप्रासंगिकाका दोषभागी नहीं बननेका ही प्रयत्न करूँगा।

प्राकृतके सर्वाधिक प्राचीन व्याकरणमें चार प्रकारकी प्राकृतोंकी चर्चा है— प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और पैंशाची। चार अध्यायोंमें उक्त चारोंकी विवेचना की गई है। प्रथम अध्यायमें जिस प्राकृतकी चर्चा की गई है उसका कोई नाम नहीं दिया गया है। वह एक प्रकारकी स्टैंडर्ड प्राकृत है परन्तु शौरसेनीके प्रकरणमें विशेषतायें बता देनेके बाद ग्रंथकारने अन्तमें एक सूत्र कहा है—‘शेषं महाराष्ट्रवत्’ अर्थात् बाकी महाराष्ट्रीके समान समझना चाहिए। इससे यह अनुमान होता है कि पहले अध्यायमें जिस प्राकृतकी चर्चा है वह महाराष्ट्री है। मागधी मगध और बंगालकी भाषाओंका प्राचीन रूप है। पैंशाची कहाँकी भाषा थी, इस बातमें नाना प्रकारके अटकल लगाये गये हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें कभी यह दर्दिस्तानकी, कभी विन्ध्याचलकी पहाड़ियोंकी, कभी सुदूर दक्षिणकी भाषा मानी गई है। जान पड़ता है यह उस समयकी आर्यैतर जातियोंद्वारा बोली जानेवाली आर्य भाषा है। वे उसका शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते होंगे और अपने नादान्यासके अनुकूल विकृत करके बोलते होंगे। रह गई शौरसेनी और महाराष्ट्री। वस्तुतः प्राकृत वैयाकरणोंने

इनमें समानता ही बहुत देखी थी, असमानता कम। जहाँ तक शौरसेनीका सम्बन्ध है, यह निश्चित है कि वह पश्चिमी हिन्दीका पूर्व रूप है; पर 'महाराष्ट्री' शब्द भ्रमात्मक है। आधुनिक मराठी भाषा या महाराष्ट्र प्रान्तसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कई पंडितोंने न्यर्थ ही दोनोंको एक ही सिद्ध करनेका निरर्थक प्रयत्न किया है। नाटकोंमें स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं। जब वे पद्यमें बोलती हैं तो महाराष्ट्री और गद्यमें बोलती हैं तो शौरसेनीका प्रयोग करती हैं। हॉर्नलेने एक बार इसीलिए कहा था कि शौरसेनी और महाराष्ट्री दो पृथक् भाषायें नहीं हैं बल्कि एक ही भाषाकी दो शैलियाँ हैं, एकका प्रयोग पद्यमें होता था और दूसरीका गद्यमें। यह बात मानी हुई है कि पद्यकी भाषा कुछ प्राचीनताश्लिष्ट और कोमलीकृत होती है। गद्यमें ठीक वैसी ही भाषा व्यवहृत नहीं भी होती। इस प्रकार असलमें वरवचिने दो ही भाषाओंकी चर्चा की है : शौरसेनी (अर्थात् पश्चिमी हिन्दीकी पूर्ववर्ती भाषा) और मागधी अर्थात् विहारी बंगाली उड्डिया आदिकी पूर्ववर्ती भाषा। पैशाची कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं बल्कि आर्य भाषाका आर्येतर-भाषित विकृत रूप है। ठीक वैसी ही जैसी 'शान्तिनिकेतन' में काम करनेवाले संथालोंकी बँगला।

जहाँ तक हिन्दीका सम्बन्ध है उसमें इन दोनों जातियोंकी भाषाओंका स्थान है। असलमें शौरसेनी और मागधी इन दो भाषाओंके बोलनेवाले आर्योंकी रहन सहन और स्वभाव भी बहुत कुछ भिन्न हैं। हॉर्नलेने इन दो श्रेणियोंका निर्देश किया था। बादमें चलकर जब भाषा-शास्त्रका और भी अनुसंधान हुआ तो जाना गया कि असलमें ये दो भिन्न भिन्न समयमें आकर बसनेवाली दो भिन्न भिन्न आर्योंकी भाषायें हैं। भाषा-शास्त्रियोंने इन्हें ठीक यही नाम न देकर 'बहिरंग' और 'अन्तरंग' भाषायें नाम दिया। यह ध्यान देनेकी बात है कि भारतवर्षके साहित्योंमें हिन्दी साहित्य ही ऐसा है जिसमें इन दो भिन्न-श्रेणीके संस्कारवाले आर्योंने समान भावसे काव्यादि रचना की। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि यद्यपि प्राकृतमें लिखे गये काव्योंके बाद ही अपभ्रंश भाषामें काव्य लिखे गये परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राकृत नामकी कोई भाषा पहले बोली जाती थी और अपभ्रंश नामकी भाषा बादमें बोली जाने लगी। असलमें अपभ्रंश लोकमें प्रचलित भाषाका नाम है जो नाना काल और नाना स्थानमें नाना रूपमें बोली जाती थी और बोली जाती है। शुरू शुरूमें इसको आभीरोंकी भाषा जरूर माना जाता था, पर

बादमें चलकर यह लोक-भाषाका ही नामान्तर हो गया। वररुचिके प्राकृत-प्रकाशमें उस युगकी भाषाके साहित्यिक रूपका वर्णन है। लोक-प्रचलित भाषा कुछ और ही थी। भाषाशास्त्रियोंने लक्ष्य किया है कि अपभ्रंश नामक उत्तर-कालीन कान्य-भाषामें ऐसे बहुतसे प्रयोग पाये जाते हैं जो वास्तवमें वररुचिके महाराष्ट्री और शौरसेनीके प्रयोगोंकी अपेक्षा प्राचीनतर हैं। उदाहरणार्थ, 'कहा' (या व्रजभाषाका 'कह्यो') प्रयोग उत्तरकालीन अपभ्रंश 'कहिउ' से निकला है। इसके अपभ्रंश और प्राकृत भेदोंकी तुलना की जा सकती है—अपभ्रंश 'कधिदो' या 'कहिदो' मागधी 'कधिद' या 'कहिदे' महाराष्ट्री 'कहिओ' और उत्तरकालीन अपभ्रंश 'कहिउ' स्पष्ट ही पुराने अपभ्रंश रूप 'कधिदो' और 'कहिदो' महाराष्ट्री रूपोंसे पुराने हैं।

इस अपभ्रंश साहित्यके विषयमें सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् म० म० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझाजी 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' नामक ग्रंथमें लिखते हैं कि "अपभ्रंश भाषाका प्रचार लट (गुजरात), सुराष्ट्र, ववण (मारवाड़), दक्षिणी पंजाब, राजपूताना, अवन्ती और मन्दसौर आदिमें था। वस्तुतः अपभ्रंश किसी एक देशकी भाषा नहीं किन्तु मागधी आदि भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओंके अपभ्रंश या बिगड़े हुए रूपवाली मिश्रित भाषाका नाम है। उसका प्रायः भारतके दूर दूरके विद्वान् प्रयोग करते थे। राजपूताना, मालवा, काठियावाड़ और कच्छ आदिके चारणों तथा भाटोंके ढिंगल भाषाके गीत इसी भाषाके पिछले विकृत रूपमें हैं। पुरानी हिन्दी भी अधिकांश इसीसे निकली है। इस भाषाका साहित्य बहुत विस्तृत मिलता है जो बहुधा कविताबद्ध है। इसमें दोहा-छन्द प्रधान है। इस भाषाका सबसे बृहत् और प्रसिद्ध ग्रंथ 'भविष्यत्त-कहा' है जिसे बनपालने दसवीं सदीमें लिखा। महेश्वरसूरिकृत 'संजमर्मजरी', पुष्पयन्तविरचित 'तिसङ्ग्रहमहापुरिसगुणालंकार', नयनदी-निर्मित 'आराधना', योगीन्द्रदेवलिलित 'परमात्म-प्रकाश', हरिभद्रका 'नेमिनाहचरित', वरदचरचित 'वैरसामिचरित', 'अन्तरंग संधि', 'सुलसाख्यान', 'भवियकुटुंबचरित्र', 'सन्देशशतक' और 'भावनासंधि' आदि भी इसी भाषाके ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त भिन्न भिन्न ग्रंथोंमें,—सोमप्रभके 'कुमारपालप्रतिबोध', रत्नमंदिरगणिकी 'उपदेशतरंगिणी', लक्ष्मण गणिकृत 'सुरासनाहचरियम्', 'दोहाकोष', कालिदासकृत 'विक्रमोर्वशीय' (चतुर्थ अंक), हेमचंद्रलिलित 'कुमारपालचरित', (प्राकृत दयाभय

काव्य), 'कालिकाचर्य-कहा' और 'प्रबंध-चिन्तामणि' आदिमें स्थल स्थलपर अपभ्रंशका प्रयोग किया गया है। हेमचंद्रने अपने 'प्राकृत व्याकरण' में अपभ्रंशके जो १७५ उदाहरण दिये हैं, वे भी अपभ्रंश साहित्यके उत्कृष्ट नमूने हैं। उनसे मालूम पड़ता है कि अपभ्रंश साहित्य बहुत विस्तृत और उन्नत था। उन उदाहरणोंमें शृंगार, वीरता, रामायण और महा-भारतके अंश, हिन्दू और जैनधर्म तथा हास्यके नमूने मिलते हैं। इस भाषाके साहित्यमें प्रायः जैनियोंने बहुत परिश्रम किया है।” *

यह तो स्पष्ट ही है कि ओझाजीने अपभ्रंश साहित्यके उत्कर्षके विषयमें जो कुछ कहा है उसका संबंध उस कालसे है जब मुसलमान इस देशमें नहीं आये थे और यदि आये भी थे तो जम नहीं पाये थे। लेकिन यह बात विवादास्पद नहीं है। लोक-भाषाका साहित्य हमेशा वर्तमान था, इस बातमें कभी दो मत नहीं रहे। लेकिन जिस बातपर यहाँ जोर दिया जा रहा है वह यह है कि नाना कारणोंसे इस कालमें अपभ्रंश कवियोंका सम्मान भी राजदरबारोंमें होता था और राजा लोग इन कवियोंको अपने दरबारमें रखना उतना ही आवश्यक समझते थे जितना संस्कृत भाषाके कवियों और पंडितोंको। इतना ही नहीं अर्बि-कांश राजा इनसे विशेष अनुराग प्रकट करने लगे थे। हमारे आलोच्य युगके आरंभमें राजशेखर कविने 'काव्य-मीमांसा' नामक एक विशाल विश्व-क्रीडा लिखा था। दुर्भाग्यवश संपूर्ण ग्रंथ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है, उसका केवल एक अंश ही पाया गया है। इस अंशमें भी हमारे कामकी बहुत-सी बातें हैं। राजशेखरने राजदरबारके जिस आदर्शका विधान किया है, वह सचमुच ही उस प्रकारका हुआ करता था, यह विश्वास करनेमें कोई बाधा नहीं। राज-शेखर कहते हैं कि राजाका कर्तव्य होना चाहिए कि वह कवियोंकी सभाओंका आयोजन करे। इसके लिए एक सभामंडप बनवाना चाहिए जिसमें सोलह खम्भे, चार द्वार और आठ अटारियाँ हों। राजाका क्रीडा-गृह इससे सटा हुआ होना चाहिए। इसके बीचमें चार खम्भोंको छोड़कर हाथ-भर ऊँचा एक चबूतरा होगा और उसके ऊपर एक मणि-जड़ित वेदिका। इसी वेदिकापर राजाका आसन

कई भाषाओंमें कविता करता हो तो जिस भाषामें वह अधिक प्रवीण हो उसी भाषाका कवि उसे माना जायगा। जो कई भाषाओंमें बराबर प्रवीण है वह उठ उठकर जहाँ चाहे बैठ सकता है। संस्कृत कवियोंके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदिका स्थान रहेगा। पूर्वकी ओर प्राकृत भाषाके कवि और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, बाणजीवन, कुशीलव, तालवचर आदि रहेंगे। पश्चिमकी ओर अपभ्रंश भाषाके कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लोहार आदिका स्थान होना चाहिए। दक्षिणकी ओर पेशाची भाषाके कवि और उनके पीछे वेष्ट्या, वेष्ट्या-लम्पट, रस्सोंपर नाचनेवाले नट, जादूगर, जम्भक (?), पहलवान, सिपाही आदिका स्थान निर्दिष्ट रहेगा।

राजशेखरके इस वक्तव्यसे इतना तो स्पष्ट ही है कि अपभ्रंशकी कविता राजसमादृत होती थी, परन्तु यह भी निश्चित है कि उसका पद संस्कृत और प्राकृतके बाद था। संस्कृतका आदर इस देशमें हमेशासे ही रहा है पर इससे यह निष्कर्ष निकालना अन्याय है कि मुसलमानोंके आगमनके पहले अपभ्रंश या लोकभाषाका स्थान उपेक्षणीय समझा जाता था। किन्तु आज तक भी कभी ऐसा समय नहीं आया जब हिन्दू राजाओंने लोकभाषाका स्थान संस्कृतके बराबर या ऊपर समझा हो। मुसलमानी सत्ताका होना या न होना इसका कारण नहीं है। इसका मतलब यह हुआ है कि यदि मुसलमानोंके आनेके पहले लोकभाषाको कोई अच्छी मर्वादा नहीं मिली थी तो वह बादमें भी नहीं मिली। और मेरी दृष्टिमें सही बात तो यह है कि मुसलमानी शासनके प्रभावसे अवस्था चाहे जो कुछ भी क्यों न रही हो, उसके पहले प्राकृत और अपभ्रंशकी कवितायें संस्कृतके समान ही आदर पाती थीं। कबीरने जो कहा था कि, 'संस्कृत कप-जल कबीरा भाषा बहता नीर।' वह मुसलमानी प्रभावके कारण नहीं। ठीक इसी प्रकारकी उक्ति बहुत बहुत पहले कही जा चुकी थी। असलमें दसवीं ग्यारहवीं शताब्दीमें "उत्ति-विसेसो कव्यं भाषा जा होउ सा होउ" वाली चारणा बढमूल हो चुकी थी। शायद ही कोई उल्लेखयोग्य संस्कृत भाषाका अलंकारशास्त्री हो जिसने संस्कृतकी कविताओंके साथ ही साथ प्राकृत और तत्काल प्रचलित लोक-भाषाकी कविताओंका विवेचन न किया हो। संस्कृतके उत्साहशील प्रचारक राजा भोजके 'सरस्वती-कंठाभरण' के विषयमें भी यही बात ठीक है। इस ग्रंथमें भी संस्कृत

और प्राकृतकी कवितायें समान भावसे उद्धृत की गई हैं और मूँड़ मारके भी कोई यह नहीं सिद्ध कर सकता कि ग्रंथकारने इन कविताओंको कम महत्त्वकी चीज समझा था। मुसलमानी सत्ताकी प्रतिष्ठाके बाद कभी कभी इस बातका सबूत मिल जाता है। जैसे केशवदासके वक्तव्यसे कि ग्रंथकार संस्कृतके बदले लोक-भाषामें कविता लिखनेके लिए लज्जित है। पुष्पदन्त स्वयंभू आदि कवियोंने अपने ग्रंथोंमें अत्याधिक विनय प्रकट किया है और विविध विषयोंके प्रति अपने अज्ञानकी बात कही है। परंतु इन विषयोंकी सूचीसे ही स्पष्ट हो जाता है कि इस विनयके पीछे कितना बड़ा गर्व है। हालहीमें मुनि जिनविजयजीने 'पुरातन प्रबंधसंग्रह' का सम्पादन किया है। इस ग्रंथसे पता चलता है कि एक बार राजा भोजने 'सिद्ध रस' बनाना चाहा था, जो न बन सका था। इसपर राजाने सिद्ध रसके बनानेका दावा करनेवाले योगियोंका मजाक करनेके लिए लोक-भाषाका एक नाटक लिखा कर अभिनय कराया था। नाटक जब खेला जा रहा था और पात्र जब आपसमें कह रहे थे—

कालिकां नट्टा नट्टा कस्स कस्स नागस्स वा वंगस्स वा ।

नहि धम्मन्त फुक्कन्त अम्ह कन्त सीस्स कालिम... *

यह सुनकर जब राजा लोट पोट होकर हँस रहा था तो उसे संनोधन करके एक सिद्ध-रस योगी बोला—

अत्थि कहंत किंपि न दीसइ ।

नत्थि कहउ त सुहगुरु रुसई ॥

ओ जाएइ सो कहइ न कीमइ ।

अजाणं तु विथारइ ईमइ+ ॥

इस ग्रंथसे और भी अनेकानेक राजाओंके दरबारोंमें लोक-भाषाके प्रयुक्ति सम्मानका प्रमाण पाया जाना है। और केवल राजा भोज या उनके पूर्ववर्ती राजा इन कविताओंका सम्मान ही नहीं करते थे, स्वयं भी कविता लिखते थे। भोज राजाके पूर्वाधिकारी और उनके पितृव्य महाराज मुंजकी अपभ्रंश कवितायें किसी भी भाषाके गर्वका विषय हो सकती हैं। इन दोहोंको थोड़ा-सा रूपान्तरित कर दिया जाय तो वे प्राचीन हिन्दीके हो जायेंगे। दो-एक उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं—

* पूरा पद नहीं पाया गया है। अन्तिम अंशके टूट जानेसे मतलब अपूर्ण रह जाता है।

+ 'है' कहूँ तो कुछ नहीं दिखता, 'नहीं है' कहूँ तो सतगुरु स्पष्ट होते हैं; जो जानता है वह कहकर प्रकट नहीं कर सकता; आयोंका, किन्तु, विचार ऐसा है।

मा गोलेखि मण गन्तु करि, पिबिख वि पड्डुखाई ।
 पंचइ सदे बिहुत्तरा, मुंजह गय गयाई ॥
 मुंज भणइ मिणालवइ, केसा काई चुयति ।
 लद्धउ साठ पयोहरहं, बंधण भणिय रआन्ति ॥
 मुंज मुणइ मिणालवइ, गठ जुवण मण झूरि ।
 जइ सकर सयखण्ड किय, तोइ स मिट्टी चूरि ॥

स्वयं महाराज भोजने अपभ्रंशसे मिलती हुई प्राकृत भाषाकी कविता लिखी थी और उसे बड़े आदरके साथ अपनी भोजशालामें खुदवाके जड़ा था। यह भोजशाला आज-कल वारकी कमाल मौला मस्जिदके नामसे मशहूर है। राजा भोजकी इस अपभ्रंश कविताकी कहानी जितनी ही करुण है उतनी ही मजेदार भी। सन् १९०५ में प्रोफेसर हचको स्थानीय एजुकेशनल सुपरिण्टेंडेण्ड मिस्टर लेलेने खबर दी कि कमाल मौला मस्जिदका मिहराब टूट गया है और उसमें दो-चार पत्थर निकल आये हैं जिनपर पुरानी नागरीमें कुछ लिखा हुआ है। इन पत्थरोंको उलट कर मस्जिदमें जड़ दिया गया था ताकि लिखा हुआ अंश पढ़ा न जा सके। अब ये पत्थर खिसककर गिर पड़े तो उनका पढ़ना संभव हुआ। पर मुसलमानोंने हठ किया कि वे पत्थर वहाँसे हटाये नहीं जा सकते। इन्हें साहबने भारत-सरकारसे लिखा-पढ़ी की और सरकारके इस्तखफका नतीजा यह हुआ कि पत्थर लगा तो उसी मिहराबमें दिया गया पर लिखी हुई पीठ सामने कर दी गई। फिर भारत सरकारकी व्यवस्थासे ही उसका प्रत्येकन उक्त प्रोफेसरको भेज दिया गया। दो पत्थरोंपर राजा भोजके वंशज अर्जुनदेव वर्माके गुरु गौड़ ब्राह्मण मदन कविकी लिखी हुई एक नाटिकाके दो अंक थे। शेष दो अंक भी निश्चय ही उसी मिहराबमें कहीं चिपके होंगे। बाकी दो पत्थरोंपर महाराज भोजके लिखे हुए आर्या छन्द खोदे गये थे। ये अपभ्रंश भाषासे मिलती जुलती प्राकृतमें लिखे गये थे। इस सिलापट्टकी प्रतिकृति 'एप्रियाफिका इण्डिका' की ८ वीं जिल्दमें छपी है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है, और बहुतसे यूरोपियन पंडितोंने किया भी है कि यह अपभ्रंश नामसे प्रसिद्ध भाषा क्या सचमुच लोक-भाषा थी! विष्णुशर्माके चतुर्थ अंकमें जिस अपभ्रंशके नमूने पाये जाते हैं उसकी भीतरी जाँचका परिणाम यह निकला है कि उसमें किसी एक सर्व-

साधारण निययका अभाव है। उसकी वास्तविकताके सम्बन्धमें जैकोबी जैसे अपभ्रंश और प्राकृतके प्रामाणिक विद्वान्को भी सन्देह ही था। उत्तरमें कहा गया है कि नाटकके लेखकोंने मूल भाषाको ठीक ठीक न समझकर उसे साहित्यिक प्राकृतके समान करना चाहा होगा और कालान्तरमें वह भाषा सदोष हो गई होगी। यह बहुत अच्छी युक्ति नहीं है, पर अगर यह स्वीकार भी कर ली जाय तो सवाल होता है कि सन् ईसवीकी छठी शताब्दीसे लेकर चौदहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश नामकी कोई एक ही भाषा कैसे बनी रही होगी? असलमें कालिदासकी और धनपालकी अपभ्रंश भाषा एक ही नहीं है। अपभ्रंशका सबसे पुराना उल्लेख भी केवल कालिदासके विक्रमोर्वशीयमें ही नहीं मिलता, उससे भी बहुत पुराने कालमें मिलता है। भारतीय नाट्य-शास्त्रमें यद्यपि अपभ्रंश नामक भाषाका उल्लेख नहीं है पर लोक-भाषाके नामपर ऐसे उदाहरण मिल जाया करते हैं जिनमें अपभ्रंशके लक्षण पाये जाते हैं और जो निश्चित रूपसे साहित्यिक प्राकृतसे एक पैर आगेकी भाषाके नमूने हैं। भरतने मागधी, आवन्ती, प्राची, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, बाल्हीका और दाक्षिणात्या इन सात प्राकृत भाषाओंकी चर्चा करनेके बाद (१७-४८) शबर, आभीर, चाण्डालादिकोंकी भाषाको अलगसे नाम दिया है। जिन दिनों भरतका नाट्य-शास्त्र बन रहा था उन्हीं दिनों भारतवर्षके पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेशोंमें आभीरोंका आविर्भाव हो चुका था। भरत मुनिने लक्ष्य किया था कि इन लोगोंका आधिक्य जिन प्रदेशोंमें था—अर्थात् सिन्धु, सौवीर और हिमालयके अंश-विशेषमें, वहाँ उकार-बहुला भाषा जनसाधारणमें प्रचलित हो चली थी। + भाषाशास्त्रियोंमेंसे कई लोगोंका अनुमान है कि यह उकारबहुला भाषा अपभ्रंशसे मिलती जुलती होगी।

आगे चलके शास्त्रकारोंका यह स्पष्ट निर्देश भी पाया जाता है कि काव्यमें आभीर आदिकी भाषाको अपभ्रंश कहते हैं [दण्डी : काव्यादर्श, (१-३-६)] यह स्मरण रखनेकी बात है कि यह केवल बोलीका चित्रण नहीं है पर काव्य-भाषाका न्यौरा है। दण्डीने यह भी कहा है कि संस्कृतके काव्योंमें सर्ग होते हैं, प्राकृतमें सान्धि और अपभ्रंशमें आसार आदि। इससे इतना तो पर्याप्त स्पष्ट है कि दण्डीके युगमें अपभ्रंश भाषामें काव्य होने लगे थे। इन काव्योंके रचयिता

+ दिग्बल-सिन्धु-सौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः ।

उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भार्वा प्रयोजयेत् (१७-६१)

बड़े बड़े विद्वान् और दार्शनिक गण ही नहीं थे बल्कि साधारण जनता भी थे जिसे दण्डीने आभीर प्रभृति कहा है। जान पड़ता है, आभीरोंकी भाषा ही उस युगके पांडितोंकी दृष्टिमें अपभ्रंशका उत्तम नमूना थी। परवर्ती कालके सर्भ पांडित नाटकोंके आभीर पात्रोंके मुखसे अपभ्रंश बोलवानेका निर्देश करते हैं। यह समझना ठीक नहीं है कि अपभ्रंश केवल आभीरों या अहीरोंकी ही भाषा थी। भरत मुनिने शुरू शुरूमें इस नवागत जातिके लोगोंके मुँहसे जिस प्रकारकी भाषाको उच्चारित होते सुना उसे अपभ्रंश जैसा कोई नाम न देकर एक जातिविशेषकी भाषा बताया था पर शीघ्र ही ये अहीर भारतके पश्चिमी और मध्य भागमें प्रधान हो उठे। महाभारतमें इन युद्धप्रिय और घुमकड़ आभीरोंकी चर्चा है। वहाँ वे गोपाल और घुमकड़के रूपमें ही परिचित हैं। अनुमानत १५० ई० पूर्वमें इन आभीरोंने पंजाबके कई अंशोंपर अधिकार कर लिया। सन् १८१ ई० के क्षत्रप रुद्रसिंहके एक लेखसे पता चलता है कि उनके प्रधान सेनापति रुद्रभूति आभीर थे। फिर सन् ३०० ई० के नासिकके गुफालेखसे पता चलता है कि उन दिनों वहाँ आभीर नरपति ईश्वरसेन (जो शिवदत्तके पुत्र थे) का राज्य था। ३६० ई० के समुद्रगुप्तके प्रयागवाले स्तंभ-लेखसे पता चलता है कि आभीर एक शक्तिशाली जाति थी और उसका अधिकार समूचे राजस्थानपर हो गया था। इस प्रकार आभीरोंके हाथमें शक्ति आती गई और साथ ही साथ उनकी विशेषतावाली भाषा काव्यका वाहन बनती गई। जहाँ जहाँ उनका अधिकार रहा वहाँ वहाँ वह भाषा जोरोंसे चल निकली। समय समयपर उसमें परिवर्तन भी होते रहे। ज्यों ज्यों आभीरगण शक्तिसंचय करके आगे बढ़ते गये त्यों त्यों अपभ्रंश भाषा भी शक्तिसंचय करती गई। झौंसी जिलेके दक्खिनी हिस्सेमें जो 'अहिरवार' स्थान है, कहते हैं कि वहाँ भी आभीरोंने कभी शासन किया था। मिरजापुर जिलेका 'अहिरौरा' कभी आभीरोंका दृढ़ केन्द्र था। अब भी वहाँके आसपास अहीरोंकी बड़ी बस्ती है। इस प्रकार जो भाषा भरतके युगमें केवल एक जातिकी भाषा थी वह धीरे धीरे सारे देशकी भाषा हो उठी। यहाँ इस कथनका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि अपभ्रंश भाषा अहीरोंकी अपनी भाषा थी। इस कथनका वही अर्थ है कि देशभाषाकी वह विशेषता जो आभीरोंके संसर्गसे प्राप्त हुई थी वही प्रधान हो गई और भाषाका साधारण रूप तत्काल प्रचलित प्राकृत ही रही। अपभ्रंशमें उस प्राकृतका एक खास प्रकारका स्वर-

वैचित्र्य और उच्चारण-प्रावण्य प्रधान हो उठा। स्वभावतः ही उस स्वर-वैचित्र्यके पीछे अनेक स्थानोंकी प्राकृत भाषायें रही होंगी। और नमिसाधुके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मागधी प्राकृतका भी अपभ्रंश रूप विद्यमान था।

राजशेखरकी काव्य-मीमांसाके विषयमें पहले ही कहा जा चुका है। उन्होंने जो कवि-सभामें अपभ्रंश कवियोंके पीछे बड़ई, लहार, लेपकार आदि जन-साधारणके कारीगरोंको बैठाना निर्दिष्ट किया है वह इस बातका सबूत है कि यह भाषा जनसाधारणकी थी। राजशेखरके युगमें यह भाषा जी रही थी, इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अन्तःपुरके परिचारकोंका अपभ्रंशभाषाविद् होनेका निर्देश किया है। इसका कारण यह था कि इन परिचारकोंको जनसाधारणकी बातें राजा तक पहुँचानी होती थीं। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा जनसाधारणकी भाषा थी फिर भी उसमें कविता होती रही। राजशेखरकी इस पुस्तकसे यह भी प्रमाणित होता है कि जिन प्रदेशोंमें आभीरीका प्राधान्य था वहाँके लोगोंकी भाषामें अपभ्रंशकी बहुलता थी। उनके मतसे गौड़ या बंगाल देशके लोग संस्कृतमें अधिक रुचि रखते थे, लाट देश या गुजरातके लोग प्राकृतमें; और मारवाड़, टक्क (हरियाना) और भादानक (मिर्जापुर और बुंदेलखण्ड) के लोग अपभ्रंशसे मिलते हुए प्रयोगवाली भाषा बोलते हैं (पृ० ५१) वही अन्यत्र कहते हैं कि सुराष्ट्र (काठियावाड़) और अवण (मारवाड़) के लोग अपभ्रंश बोलते हैं। इस प्रकार मूलतः अपभ्रंश मारवाड़, हरियाना (पंजाब), भादानक (बुंदेलखण्ड), सुराष्ट्र (काठियावाड़) में अधिक प्रचलित थी। सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीने अपभ्रंशका जो 'बौद्ध गान ओ दोहा' नामक संग्रह प्रकाशित किया है,—और जिसे वे पुरानी ँगला कहना चाहते हैं,—उस जैसे दो एक ग्रंथोंके अपवादको छोड़कर अधिकांश अपभ्रंशके काव्य इन्हीं प्रदेशोंसे प्राप्त हुए हैं। इनमेंसे बहुत-से काव्य दिगंबर जैनोंके लिखे हुए हैं जो मारवाड़ और बुंदेलखण्डमें अब भी बसे हुए हैं। श्वेताम्बर जनोंने प्राकृतमें लिखनेमें जैसी पटुता और तत्परता दिखाई है वैसी अपभ्रंशमें नहीं*। इस प्रकार ऊपरके सारे वक्तव्यका सारांश पंडितोंने इस प्रकार दिया है —

(१) अपभ्रंश भाषा सन् ईसवीके प्रथम शतकमें आभीरी भाषाके नामसे लक्ष्य

* दे० परिशिष्ट : जैन साहित्य ।

की गई थी और भारतवर्षके पश्चिमोत्तर सीमान्तमें बोली जाती थी। आभीरीका विशेष प्रकारका स्वर-वैचित्र्य और उच्चारण-प्रावण्य इसका प्रधान लक्षण था। यद्यपि यह आभीरी नामसे पुकारी गई, पर यी आर्यभाषा ही।

(२) सन् ईसवीकी छठी शताब्दीमें इस भाषामें साहित्य सृष्ट हो चुका था, जिसे भामह और दण्डी जैसे आलंकारिकोंने उल्लेखयोग्य समझा। अब भी यह आभीरीसे विशेष रूपसे संबद्ध मानी जाती थी। अनुमान है कि आभीरीके हाथमें राज्य-सत्ता आनेके साथ इसमें कान्य लिखे जाने लगे होंगे।

(३) नवी शताब्दीमें यह जनसाधारणकी भाषा समझी जाने लगी और इसका विशेष संबंध केवल आभीर आदिसे ही है, यह धारणा जाती रही। अब तक यह सौराष्ट्रसे भगधतक फैल चुकी थी। तत्तत् स्थानोंके अपभ्रंशोंमें निश्चय ही भेद रहे होंगे पर कान्यके लिए आभीरी द्वारा प्रोत्साहित भाषा ही साधारण भाषा मान ली गई थी।

(४) ग्यारहवीं शताब्दीमें आलंकारिकों और वैयाकरणोंने लक्ष्य किया था कि अपभ्रंश कोई एक भाषा नहीं है बल्कि स्थान-भेदसे अनेक प्रकारकी है। अर्थात् यहाँतक आकर अपभ्रंशका व्यवहार लोकभाषाके अर्थमें होने लगा था।

(५) अपभ्रंश कविताके विषय अधिकतर नीतिसंबंधी और धार्मिक उपदेश, शृंगार रसकी रचनायें और लोकप्रचलित कथानक थे। *

इस प्रकार इस देशमें मुसलमानी सत्ताकी प्रतिष्ठाके बहुत पूर्वसे ही निश्चित रूपसे लोक-भाषाको राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। जैसा कि पहले ही कहा गया है इस सम्पूर्ण साहित्यमें ऐसा कोई कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोक-भाषामें लिखनेके कारण कोई कवि अपनेको छोटा समझ रहा हो। पृथ्वी-राजका दरबारी कवि चंद बलहिय (चंद वरदाई) हिन्दी भाषाका आदि कवि माना जाता है। असलमें वह अपभ्रंशका अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दीका आदि कवि कम; क्योंकि उसका कान्य अब जिस रूपमें पाया जाता है वह रूप मौलिक नहीं है। इस ग्रंथमें इतनी प्रशिक्षित बातें आ चुकी हैं कि ओझाजी जैसे ऐतिहासिक पंडित इसे एकदम अप्रामाणिक और जाली ग्रंथ समझते हैं। हालमें 'पुरातन प्रबंध-संग्रह'के प्रकाशनके बादसे यह बात निश्चित रूपसे सिद्ध हो गई है कि

* विशेष विवरणके लिये श्री पाण्डुरंग गुणेकी सम्पादित 'मविसयत्तकहा' की मका (वडोदा १९३३) देखिये।

चंदका मूल काव्य बहुत कुछ अपभ्रंशकी प्रकृतिका था और आज वह जिस रूपमें मिलता है वह उसका अत्यन्त विकृत रूप है। असलमें अपभ्रंश भाषामें काव्यरचना चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी तक होती रही, यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नई भाषाको स्थान दे दिया था। विद्यापतिने पूर्व देशमें एक ही साथ तत्काल प्रचलित लोक-भाषा और अपभ्रंश दोनोंमें काव्य लिखा था। यहाँ एक बात विचारणीय रह जाती है। यदि आधुनिक भाषायें इन अपभ्रंशोंका स्वाभाविक विकास हैं तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकतासे संस्कृतके तत्सम शब्दोंका प्रयोग होता है जब कि अपभ्रंशके काव्योंमें खोजने पर भी संस्कृतके शब्द अपने मूल रूपोंमें नहीं मिलते ? मेरा तात्पर्य वर्तमान भाषासे नहीं बल्कि सूरदास तुलसीदास आदिकी प्राचीन काव्य-भाषासे है। केवल पुस्तकगत भाषामें ही नहीं उन दिनोंमें प्रचलित बोलचालकी भाषामें भी संस्कृत तत्सम शब्द, अपभ्रंश भाषाओंकी अपेक्षा अधिक मात्रामें बोले जाते थे। ऐसा न होता, तो कबीर और दादू आदिकी भाषामें तत्सम शब्दोंके प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानोंने इन शब्दोंका प्रचार नहीं किया था।

असलमें बौद्ध-धर्मके उच्छेद और ब्राह्मण धर्मकी पुनः स्थापनासे भारतकी धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितिमें अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हो गई। बौद्ध धर्मका प्रसार साधारणतः विदेशियोंमें ही अधिक हुआ। क्यों कि सनातन आर्य धर्म वेदको प्रामाण्य मानता था पर बौद्ध और जैनधर्म नहीं, इसलिए वे विदेशियोंके लिए अधिक ग्राह्य हो सके। जैनधर्मका प्रभाव भी अधिकांशमें शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासियोंपर ही पड़ा होगा जो धीरे धीरे इस देशमें क्षत्रियत्व और वैश्यत्वका पद प्राप्त करने लगे थे। सन् ईसवीके आठ-ने सौ वर्ष बीतनेपर इस देशमें प्राचीन वैदिक धर्म बड़े जोरोंसे उठ खड़ा हुआ। इस समयके ऐसे बड़े बड़े राजे जो अधिकांशमें क्षत्रियत्वका पद प्राप्त करनेके प्रयासी रहे होंगे ब्राह्मण आचार्योंके प्रभावमें आते गये और इस प्रकार संस्कृत भाषाको बहुत बल मिला। जनतामें धर्म-प्रचार करनेके लिए जिन पुराणोंकी सहायता ली गई वे संस्कृतमें लिखे गये थे। कथावाचक लोग इनकी ग्याख्या लोक-भाषामें करते होंगे पर उनकी भाषामें संस्कृतके तत्सम शब्दोंकी अधिकता रहती होगी। फिर, जैसा कि श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यने कहा है, इसी समय संस्कृत भाषाके प्रचारमें शाङ्कर मतकी विजयसे विशेष सहायता मिली होगी।

शंकराचार्यका उत्कर्ष ईसाकी आठवीं शताब्दीके आसपास हुआ। उनके मतकी छाप सर्वसाधारणपर पड़ी। उक्त मतका प्रसार संस्कृत भाषाके द्वारा ही होनेके कारण सर्वसाधारणकी भाषामें संस्कृत शब्द आ गये और धीरे धीरे संस्कृतसे ही हिन्दी, बंगाल, मराठी, गुजराती आदि संस्कृतप्रचुर भाषायें बनीं। तामिल आदि भाषाओंका इतिहास भी ऐसा ही है। इसलिए तुलसीदास और सूरदासकी भाषाओंमें संस्कृत शब्दोंकी प्रचुरता होना अपभ्रंश भाषाओंके स्वाभाविक विकासके विरुद्ध नहीं ले जाता और न इससे उनमें किसी प्रकारकी प्रतिक्रियाका भाव ही सिद्ध होता है।

अब हम हिन्दी साहित्यकी ओर लौटें। आधुनिक युग आरंभ होनेके पहले हिन्दी कविताके प्रधानतः छः अंग थे—डिंगल कवियोंकी वीर-गाथायें, निर्गुणिया सन्तोंकी वाणियाँ, कृष्णभक्त या रागानुगा भक्तिमार्गके साधकोंके पद, राम-भक्त या वैष्णव भक्तिमार्गके उपासकोंकी कवितायें, सूफी-साधनासे पुष्ट मुसलमान कवियोंके तथा ऐहिकतापरक हिन्दू कवियोंके रोमांस और रीति-काव्य। हम इन छहों धाराओंकी आलोचना अगर अलग अलग करें तो देखेंगे कि ये छहों धारायें अपभ्रंश कविताका स्वाभाविक विकास है। कभी कभी यह शंका की गई है कि हिन्दी साहित्यका सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभावकी प्रतिक्रिया है और कभी कभी यह भी बतानेका प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया सन्तोंकी जाति-प्रांतीय विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति-पूजाके खण्डन करनेकी चेष्टामें 'मुसलमानो जोश' है। किसी किसीने तो कबीरदास आदिकी वाणियोंको 'मुसलमानी हथकंडे' भी बताया है ! ये सभी बातें भ्रममूलक हैं। हम आगे चल कर देखेंगे कि निर्गुण-मतवादी सन्तोंके केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तुके उपस्थापनकी प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्योंकी देन हैं। इसी तरह यद्यपि वैष्णव मत अचानक ही उत्तर भारतमें प्रबल रूप ग्रहण करता है पर सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियोंकी समूची कवितामें किसी प्रकारकी प्रतिक्रियाका भाव नहीं है। हम देखेंगे कि जिस समाजको ये भक्तगण सुधारना चाहते थे उसमें विदेशी धर्मका कोई प्रभाव उन्होंने लक्ष्य मो नहीं किया था। परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि मुसलमानी धर्मका कोई प्रभाव इस साहित्यपर नहीं पड़ा है। यह कहना अनुचित है। एक जीवित जातिके स्पर्शमें आने पर दूसरीपर उसका प्रभाव

पड़ना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्यके सुवर्ण-कालमें भी इस प्रकार विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार कालिदासकी काव्यताओंमें यावनी या ग्रीक प्रभाव देख कर यह नहीं कहा जाता कि वह दुर्बल जातिकी प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्तिका निदर्शक है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्यमें भी यह प्रभाव 'प्रभाव'के रूपमें ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रियाके रूपमें नहीं।

अब ध्यानसे देखिए तो हिन्दीमें दो प्रकारकी भिन्न भिन्न जातियोंकी दो चीजें अपभ्रंशसे विकसित हुई हैं। (१) पश्चिमी अपभ्रंशसे राजस्तुति, ऐहिकता-मूलक शृंगारी काव्य, नीतिविषयक फुटकल रचनावें और लोकप्रचलित कथानक। और (२) पूर्वी अपभ्रंशसे निर्गुनिया सन्तोंकी शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचारधारा, शाङ्ग-फटकार, अक्खड़पना, सहज-शून्यकी साधना, योग-पद्धति और भक्ति-मूलक रचनावें। यह और भी लक्ष्य करनेकी बात है कि यद्यपि वैष्णव मत-वाद उत्तर-भारतमें दक्षिणकी ओरसे आया पर उसमें भावावेशमूलक साधना पूर्वी प्रदेशोंसे आई। इस प्रकार हिन्दी साहित्यमें दो भिन्न भिन्न जातिकी रचनावें दो भिन्न भिन्न मूलोंसे आईं। यह बात पहले ही बताई जा चुकी है कि पश्चिमी प्रदेशोंमें बसे हुए आर्य पूर्वी प्रदेशोंमें बसे हुए आर्योंसे भिन्न प्रकृतिके हैं। भाषाशास्त्रियोंने यह निश्चित रूपसे सिद्ध कर दिया है कि ये दो भिन्न भिन्न श्रेणीके लोग थे। यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि पूर्वी प्रदेशोंमें भारतीय इतिहासके आदि कालसे रूढ़ियों और परम्पराओंके विरुद्ध विद्रोह करनेवाले सन्त होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्डके मृदुविरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशोंमें उत्पन्न हुए थे। समग्र भारतीय साहित्यमें हिन्दी ही एक मात्र ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्योंकी रूढ़ि-प्रियता, कर्मजिष्ठताके साथ ही साथ पूर्वी आर्योंकी भाव-प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेम-निष्ठताका मणि-काञ्चन योग हुआ है। इस बातको ठीक ठीक न समझ सकनेके कारण ही केवल ऊपरी बातोंको देखनेवाले आलोचक कभी इस भावको मुसलमानी प्रभाव और उस भावको ईसाइयतका प्रभाव कह देते हैं। कभी कभी विचारवान् पण्डित भी ऐसी ऊटपटांग बातें कह जाते हैं जो नहीं कही जानी चाहिए थीं। आगे हम इन धाराओंकी विशेष जाँच करनेका प्रयत्न करेंगे।

सन्त-मत

अपभ्रंश साहित्यकी आलोचनासे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि चारण कवियों की वीर-गाथायें पुरानी परम्पराके अनुसार ही थीं। इस विषयमें कोई मत-भेद नहीं है। पर निर्गुणिया सन्तोंकी वाणीके विषयमें काफी भ्रम फैला हुआ है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि कबीरदास ही निर्गुण मतके आदि प्रतिष्ठाता थे। उनका जन्म मुसलमान-वंशमें हुआ था, ऐसा प्रवाद है। कुछ लोगोंका कहना है कि उनका जन्म तो हिन्दू घरमें हुआ था पर लालन-पालन मुसलमान घरमें। जो हो, उनका मुसलमानी वातावरणमें बड़ा होना निश्चित है। यही कारण है कि उनकी रचनाओंमें मुसलमानी भावकी साधनाकी गंध मिल जाती है। सही बात यह है कि कुछ नामों, शब्दों और खण्डन करनेके उद्देश्यसे उल्लिखित कुछ सिद्धान्तोंके अतिरिक्त मुसलमानी प्रभाव कबीरमें नहीं के ही बराबर है। यह स्मरण रखनेकी बात है कि योगियोंका एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय अवध, काशी, मगध और बंगालमें फैला हुआ था। ये लोग गृहस्थ थे और इनका पेशा जुलाहे और धुनियेका था। इनमें जो साधु हुआ करते थे वे भिक्षावृत्तिपर निर्वाह करते थे। ब्राह्मण धर्ममें इनका कोई स्थान न था। मुसलमानोंके आनेके बाद वे लोग धीरे धीरे मुसलमान हो गये और आज भी हो रहे हैं। परन्तु मुसलमान होनेपर भी ये अपनी साधनाओंसे विरत नहीं हुए। बारहवीं शताब्दीमें अब्दुल रहमान नामक 'आरद्' या जुलाहे कविने 'संदेशरासक' नामक अपभ्रंश-काव्य लिखा था। यह पुस्तक हाल ही जिनविजयजी द्वारा संपादित होकर बंबईसे प्रकाशित हुई है। बंगालमें योगियोंके बहुतसे धर्म-ग्रन्थ और पुराण मुसलमानी नामधारी लोगोंके लिखे हुए पाये गये हैं। वहाँ योगी नामकी अलग जाति है जो प्रायः समाप्त होनेको आ चुकी थी पर अब जब कि उसमें आत्म-चेतनाका भाव उदय हुआ है वह अपनी हस्ती बचानेका प्रयत्न कर रही है। कबीर, दादू और जायसी ऐसे ही नाम-मात्रके मुसलमान थे जिनके परिवारमें योगियोंकी साधना-पद्धति जीवित रूपमें वर्तमान थी। सन् १९२१ की

मनुष्य-गणनाके अनुसार अकेले बंगालमें इन योगियोंकी संख्या ३६५९१० थी। वे सारे बंगालमें फैले हुए हैं और कपड़ा बुननेका काम करते हैं। हिन्दू समाजमें उनका स्थान क्या है यह इस एक बातसे अनुमान किया जा सकता है कि १९२१ ई० की मनुष्य-गणनाके समय जब एक जोगी परिवारने अपनेको स्थानीय प्रचलनके अनुसार 'जुगी' न लिखाकर 'योगी' तथा अपनी स्त्रियोंके नामके सामने 'देवी' लगाना चाहा था तो गणनालेखक ब्राह्मणने कहा था कि अपना हाथ कटा देना अच्छा समझूँगा परन्तु 'जुगी' को 'योगी' नहीं लिखूँगा और न इनकी स्त्रियोंको 'देवी' लिख सकूँगा! अब इन जोगियोंकी दृढ़ संगठित सभा हैं जो जोगियोंके सम्बन्धमें अच्छी जानकारी संग्रह कर रही है। वे लोग अपनेको योगी ब्राह्मण भी कहने लगे हैं। इसी प्रकारकी जोगी जातियाँ बिहारमें भी पाई जाती हैं और युक्त प्रान्तमें भी किसी जमानेमें थीं। कबीर और दादूका इन्हीं जातियोंमेंसे प्रादुर्भाव हुआ था। इस बातको ठीक ठीक हृदयंगम न कर सकनेवाले पण्डित कहा करते हैं कि कबीर या दादू सुने-सुनाये शानकी अटपटी वाणियों गाया करते थे।

यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी सन्तोंकी वाणियोंकी बाहरी रूपरेखापर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्मके अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियोंके पदादिसे उसका सीधा संबंध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदिने व्यवहारकी हैं जो उक्त मतके माननेवाले उनके पूर्ववर्ती सन्तोंने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलङ्कार, क्या छन्द, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीर-दासके मार्गदर्शक हैं। कबीरकी ही भाँति ये साधक नाना मतोंका खण्डन करते थे, सहज और शून्यमें समाधि लगानेको कहते थे, दोहोंमें गुरुके ऊपर भक्ति करनेका उपदेश देते थे। इन दोहोंमें गुरुको बुद्धसे भी बड़ा बताया गया है और ऐसे भाव कबीरमें भी बड़ी आसानीसे मिल सकते हैं जहाँ गुरुको गोविन्दके समान ही बताया गया है। 'सद्गुरु' शब्द सहजयानियों, वज्रयानियों, तांत्रिकों, नाथपंथियोंमें समान भावसे समाहित है।

बहुतसे लोगोंकी कबीरदासके जाति-प्रातिविरोधी विचारोंको देखकर यह धारणा होती है कि कमसे कम यह बात कबीरदासमें मुसलमानी प्रभावके कारण आई है। किसी किसी पांडितको तो यह शंका भी हुई है कि ये बातें मुसलमानी

धर्मके प्रचारके हथखंड हैं और कुछ लोग मुसलमानी आदर्शके प्रति कबीरदासकी गहरी निष्ठाका प्रमाण इन्हीं बातोंमें बताते हैं। यह युक्तियाँ कुछ जँचती-सी नहीं जान पड़ती। जाति-वर्णके भेदसे जर्जरीभूत इस देशमें जो कोई भी महासाधक आया है उसे यह प्रथा खटकी है। ऐसे बहुतसे प्राचीन ग्रंथ हैं जिनमें जाति-भेदको उड़ा देनेपर जोर दिया गया है। पर संस्कृतकी पुस्तकें साधारणतः ऊँची जातियोंके लोगों द्वारा लिखी गई होती हैं जिनमें लेखक केवल तटस्थ विचारकी भाँति रहता है। स्वयं नीचे कहे जानेवाले वंशमें उत्पन्न नहीं होनेके कारण उनमें भुक्त-भोगीकी उग्रता और तीव्रता नहीं होती। सहज्यान और नाथपंथके अधिकांश साधक तथा-कथित नीच जातियोंमें उत्पन्न हुए थे, अतः उन्होंने इस अकारण नीच बनानेवाली प्रथाको धार्मिककी तटस्थताके साथ नहीं देखा। कबीरदास आदिके विषयमें भी यही बात ठीक है। फिर भी उच्चवर्णके लोगोंने सदा तटस्थताका ही अवलम्बन नहीं किया। कभी कभी उन्होंने भी उग्रतम आक्रमण किया हैं। अश्वघोष (कालिदासके भी पूर्ववर्ती) कविकी लिखी हुई वज्रसूची एक ऐसी ही पुस्तक है। तबसे निरन्तर महायान मतके साधक-गण इस प्रथाके विरुद्ध प्रचार करते रहे हैं। सरोसहपाद (सरहपा) नामक सहजयानी सिद्ध जाति-व्यवस्थाके भयंकर विरोधी थे। वे कहते हैं—“ब्राह्मण ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न हुए थे; जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं वैसे ही पैदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहाँ ? यदि कहो कि संस्कारसे ब्राह्मण होता है तो चाण्डालको भी संस्कार दो, वह भी ब्राह्मण हो जाय; यदि कहो कि वेद पढ़नेसे कोई ब्राह्मण होता है तो क्यों नहीं चाण्डालोंको भी वेद पढ़ाकर ब्राह्मण हो जाने दें ? सच पूछो तो शूद्र भी तो व्याकरणादि पढ़ते हैं और इन व्याकरणादिमें भी तो वेदके शब्द हैं, फिर शूद्रोंका भी तो वेद पढ़ना हो ही गया। और यदि आगमें धी देनसे मुक्ति होती हो तो सबको क्यों नहीं देने दें ताकि सब मुक्त हो जायें ? होम करनेसे मुक्ति होती हो या नहीं, धुआँ लगनेसे आँखोंको कष्ट जरूर होता है। ब्राह्मण 'ब्रह्मज्ञान ब्रह्मज्ञान' चिल्लाया करते हैं। अब्बल तो उनके अर्थव वेदकी सत्ता ही नहीं है, फिर और तीन वेदोंके पाठ भी सिद्ध नहीं, इसलिए वेदका तो कोई प्रामाण्य ही नहीं है। वेद तो परमार्थ नहीं हैं; वह तो शून्यकी शिक्षा नहीं देता, वह तो एक नैर्घृणकी बकवास है।” इसी प्रकार शिवोपासक योगियोंके मतमें भी वेदका

कहते हैं—ये शिव (ईश्वर) के भक्त शरीरमें राख मलते हैं, सिरपर जटा धारण करते हैं, दिया जलाकर घरमें बैठे रहते हैं और ईशान कोणमें बैठकर घंटा बजाया करते हैं, आसन बाँधकर आँख मूँदा करते हैं और लोगोंको नाहक धोखा देते हैं। अनेक रण्डी मुण्डी और नाना वेशधारी इन गुरुओंके मतमें चलते हैं। लेकिन जब कोई पदार्थ है ही नहीं, अब वस्तु वस्तु ही नहीं है तो ईश्वर भी तो एक पदार्थ ही है, वही कैसे रह सकता है ? इत्यादि।* इसी प्रकार ये साधक अन्यान्य मतोंका भी खण्डन करते और अपने मतोंका स्थापन करते रहते थे। इन खण्डनोंका स्वर एकदम वही है जो कबीरदासका। अन्तर इतना ही है कि कबीरके युगमें अवस्था और जटिल हो गई थी। उन्हें मुसलमानों, हिन्दुओं, योगियों और इन सिद्धों और साधकों सबसे एक एक हाथ लड़ लेना था। कबीरके निर्गुणमतवादी साधकोंकी परम्परामें जो दादू, सुन्दरदास आदि भक्त हो गये हैं उन्होंने स्पष्ट ही नाथपंथी योगियों, विशेषकर आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ तथा चौरासी सिद्धों, विशेषकर काण्हेरी, चौरङ्गी, हाडिफा आदिको अपने मतका आचार्य माना है। सहजयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियोंका अक्खड़पना कबीरमें पूरी मात्रामें है और उसके साथ ही उनका स्वाभाविक फक्कड़पन मिल गया है। इस परम्परागत अक्खड़पन और व्यक्तिगत फक्कड़पनने मिलकर कबीरदासको अत्यधिक प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया है।

एक बात लक्ष्य करनेकी यह है कि हिन्दी साहित्यके आदि प्रवर्तक तीन महाकवियों—चन्द, कबीर और सूरदास,—मेंसे सबके सब एक विचित्र प्रकारकी पद रचना करते रहे। इन्हें दृष्टकूट, उलटबौंसी या विपर्यय कहते हैं। सूरदासके ग्रंथोंमें इन्हें दृष्टकूट और कबीरकी बाणीमें उलटबौंसी कहा है। चन्दके रासोंमें भी ऐसे दृष्टकूट मिल जाया करते हैं। जिन उलटबौंसियोंके लिए कबीरदास बहुत बदनाम किये गये हैं और साहित्यिक 'महारथियों' के आक्षेप-वाणोंके शिकार होते रहे हैं उनमें कितनी उनकी अपनी रचना है और कितनी पूर्वतर साधकोंसे ग्रहीत और कितनी भक्तोंद्वारा उनके मन्थे आरोपित हैं, वह निश्चय करना मुश्किल है। लेकिन इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकारकी उलटबौंसियाँ उस युगमें नाथपंथी योगियों और सहजयानियोंमें

* परिशिष्टका 'बौद्ध साहित्य' देखिये।

खून प्रचलित थीं। बंगालमें मुसलमान नामधारी योगियोंकी लिखी हुई पोथियोंमें ऐसी उलटबौंसियोंकी भरमार हुआ करती है। तत् तत् सम्प्रदायवाले इन उलटबौंसियोंका अर्थ भी कर लिया करते थे। सहजयानियोंमें इस प्रकारकी भाषाका नाम 'सन्ध्या भाषा' प्रचलित था*। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीके मतसे सन्ध्या भाषाका मतलब ऐसी भाषासे है जिसका कुछ अंश समझमें आये और कुछ अस्पष्ट दिखे पर ज्ञानके दीपकसे जिसका सब कुछ स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्यामें सन्ध्या शब्दका अर्थ सँझ मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाशके बीचकी सन्ध्याकी भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बताई गई है। परन्तु ऐसे बहुतसे विद्वान् हैं जो उक्त भाषाका यह अर्थ नहीं स्वीकार करना चाहते। एक पंडितने अनुमान भिन्नाया है कि इस शब्दका अर्थ संधि-देशकी भाषा है। संधि-देश भी इस पंडितकी अनुमितिके अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहारकी पूर्वी सीमा और बंगालकी पश्चिम सीमा मिलती है। यह अनुमान स्पष्ट ही बेबुनियाद है क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बिहार और बंगालके आधुनिक विभाग सदासे इसी भाँति चले आ रहे हैं। म० म० प० विधुशेखर भट्टाचार्य महाशयका मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा' भाषा है और इसका अर्थ अभि संधिसहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्दको संस्कृत संघाय (=अभिप्रेत) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्धशास्त्रके किसी किसी वचन-विशेषने आगे चलकर सहजयान और वज्रयानमें यह रूप ग्रहण किया है।

* इस भाषाकी एक उलटबौंसीका उदाहरण ढेण्डणपादकी रचनासे दिया जा रहा है—

टलत मोर घन ना हि पढ़वेधी (टलत मोर धर नाहि पढ़ोसी)
 हाड़ीति मात नाहि नित आवेशी । (हाड़ीमें मात नाहि नित आवेशी)
 बँग संसार बड़हिल जात्र । (बिना अंग संसार बढ़ा जाय)
 दुहिल दुधु कि बेण्टे बामाय । (दुहा दूध कि बाँट समाय)
 वलद बिआपल गबिया बाँभे । (बैल बियाया गया बाँभे)
 पिठा दुहिए प तिना सौंभे । (पीठमें दुहा इतनी सौंभे)
 जो सो बुधी सो धनि बुधी (जो सो बुद्धि धन्या बुद्धि)
 जो सो चौर सोइ साधी (जो सो चोर सोइ साधु)
 निते निते बियाला सिंह धन जूभय । (नित नित स्यार सिंहसों जूभे)
 ढेण्डणपाएर गीत बिरले बूभय । (ढेण्डणपादका गीत बिरला बूभे)

असलमें, जैसा कि भट्टाचार्य महाशयने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदोंमेंसे भी ऐसे उदाहरण खोजकर निकाले जा सकते हैं जब कि संधाभाषा जैसी भाषाके प्रयोग मिल जाया करते हैं। परन्तु बौद्ध धर्मकी अन्तिम यात्राके समय यह शब्द अत्यधिक प्रचलित हो गया था और जनसाधारणपर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था। यही कारण है कि उस युगके सभी कवि किसी न किसी रूपमें इन विरोधाभासमूलक उलटबौंसियोंकी रचना करते रहे। श्रीराहुल सांकृत्यायनने यह पहले ही कहा है कि सन्त कवियोंकी उलटबौंसियोंपर सिद्धोंका प्रभाव है। एक अन्य विद्वान्का कहना है कि सहजयानियोंकी संघा भाषा और सन्तोंकी उलटबौंसियोंमें बड़ा अन्तर है। सन्तोंका उद्देश्य विरोधाभासको अप्रकृत करके उसके अन्तर्निहित महान् अर्थको प्रकृत बनाना है, पर सिद्धोंका ऐसा नहीं है। इसीलिए, सिद्धोंकी वाणियाँ, उक्त विद्वान्के मतसे बादमें चलकर विकृत अर्थ उत्पन्न करनेका कारण हुईं। मुझे इस भेदारोपमें कोई विशेषता नहीं दिखती। असलमें सहजयान और वज्रयानमें कुप्रवृत्तियोंका प्रवेश इसलिए नहीं हुआ कि संघाभाषामें उनकी वाणियाँ कही गई थीं। अद्वय वज्रकी टीकासे साफ ज्ञान पड़ता है कि इन सिद्धोंका उद्देश्य भी वही था जो सन्तोंका था। काल-भेद, व्यक्ति-भेद और अवस्था-भेदके कारण जो भेद स्वाभाविक हैं वही भेद इन दोनोंमें हैं। सूरदासके दृष्टकूटोंके विषयमें भी यही बात ठीक है। वह भी एक तरहके संभावचन या उलटबौंसी है। बहुत संभव है कि कबीरदास आदिकी पुस्तकोंमें जो ऐसी रचनायें मिलती हैं वे पूर्ववर्ती साधकों और भक्तोंकी रचनायें ही हों और बादमें इन कवियोंके नामसे चल पड़ी हों। वस्तुतः यह बात केवल अनुमान या अटकल नहीं है। कबीरदासके नामपर यह उलटबौंसी बहुत अधिक प्रचलित है—“कबीरदासकी उलटी बानी। बरसै कंवल भीजै पानी ॥” स्व० डा० पीतांबरदत्त बड़वालने प्रयाग से ‘गोरख-बानी’ नामक जो संग्रह प्रकाशित कराया है उसमें गोरखनाथके नामपर यही उलट बौंसी इस प्रकार मिलती है—“नाथ बोले अमृत वाणी। बरिसैगी कंजली भीजैगा पाणी ॥” (पृ० १४१)। इस प्रकारके अनेक उदाहरण दिखाये जा सकते हैं।

इसी प्रकार पण्डितमण्डली जिन बातोंके लिए कबीरदासको घमंडी समझती है वे भी किसी न किसी रूपमें प्राचीनतर आचार्योंसे परम्परया प्राप्त हुई थीं और बहुत-सी बादमें शिष्योंने कबीर आदिके नामपर चला दी हैं। मध्ययुगके

भक्तोंके ऐसे अनेक पद मिलते हैं जो कई सन्तोंके नामसे प्रचलित हैं। जो पद कबीरके नामसे चल रहा है वही दादूके नामसे, फिर वही रैदास या अन्य किसी साधकके नामसे भी। ऐसे पदोंके विषयमें समझना चाहिए कि ये पद पूर्ववर्ती साधकोंके अनुभव हैं जिन्हें परवर्ती साधक या साधकोंने भी स्वीकार कर लिया है। ये भक्त कविता करनेके लिए पद नहीं लिखा करते थे इसीलिए इनमें उस प्रकारकी सावधानीका अभाव है जो कवि अपनी रचनाके अभिनव चमत्कार प्रदर्शनके लिए अत्यावश्यक समझता है। कबीरदासकी यह साखी सहजमतके आचार्यकी याद दिला देती है—

जिहि बन सीह संचरै, पंखि उड़ै नहि जाय ।

रैनि दिवसका गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लख ॥

सरहपादकी साक्षी है—

जंहि मन पवन न संचरह, रवि शशि नाह पवेश !

तहि बट चित्त विशाम कर, सरहै कहिअ उमेश ॥

असलमें साखी (साक्षी) का मतलब ही यह है कि पूर्वतर साधकोंकी बात-पर कबीरदास अपनी साक्षी या गवाही दे रहे हैं। अर्थात् इस सत्यका अनुभव वे भी कर चुके हैं। जो लोग कबीरदासको साधक न समझकर केवल कवि समझना चाहते हैं वे प्रायः कुछ ऐसी उल्टी सीधी बातें कर जाते हैं जो उनके पाण्डित्यके लिए शोभाजनक नहीं होती। कभी कभी हास्यास्पद भावसे कबीरदासको शास्त्रज्ञानहीन, सुनी सुनाई बातोंका गढ़नेवाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युगमें जुलाहे, मोची, धुनिये और अन्यान्य नीची कही जानेवाली जातियोंके लिए शास्त्र और वेदका दरवाजा खुला था और कबीरदास आदिने जान बूझकर उनकी अथहेलना की थी ! सच पूछा जाय तो शास्त्रज्ञान, तत्त्वज्ञानके मार्गमें सब समय सहायक ही नहीं होता और कभी कभी तो उस युगकी तथोक्त नीच जातियोंमेंसे आये हुए महापुरुषोंका शास्त्रीय तर्कजालसे मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है। इन संस्कारोंसे वंचित रहनेके कारण ही वे सब जगहसे सहज सत्यको सहज हाँ ले सकते थे। वे रूढ़ियों और मिथ्या विश्वासके शिकार नहीं हुए। वे उस वे मतलबकी निजत्व-बुद्धिके भी शिकार नहीं हुए जो दूसरोंकी लिखी हुई बातको तोड़ मरोड़कर कहनेमें दूसरोंसे ग्रहण करनेके महादोषसे अपनेको मुक्त समझती है। उनमें ग्रहण करनेकी भी शक्ति थी, और करनेकी भी शक्ति थी इसी लिए वे महान् थे।

कबीरदास आदि साधकोंने नाथपंथियों और सहजयानियोंके बहुतसे शब्द, पद और दोहे ज्योंके त्यों स्वीकार कर लिये थे * । इनमें यत्र तत्र नाम मात्रके परिवर्तन भी हैं। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कबीर, आदिने अनेक बातें पूर्ववर्ती साधकोंसे ग्रहण की थीं, फिर भी कबीरकी साधना वही नहीं थी जो इन योगियों या सहजयानियोंकी थी। कबीर आदिने योगियों और सहजयानियोंके पारिभाषिक शब्दोंकी अपने ढंगपर व्याख्या की। जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रोंसे ग्रहीत होकर भी उनके राम 'दशरथ-सुत' नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनका सहज शून्य, षट्चक्र, समाधि, इडा, दिगला आदि भी सहजयानियों और योगियोंके इन्हीं शब्दोंसे भिन्न अर्थ रखते थे। इतना ही नहीं सूक्तियोंकी साधनासे ग्रहीत शब्दोंकी भी उन्होंने अपने ढंगपर व्याख्या की थी। क्योंकि वे किसी शास्त्रविशेष या सम्प्रदाय विशेषके संस्कारोंसे जकड़े हुए नहीं थे और जैसा कि दादूने कहा है, कबीरदासने निर्गुण ब्रह्मकी समाधिके विषयमें मुसलमानोंका रास्ता छोड़ दिया था और हिन्दुओंके कर्मकलापसे भी अलग हो गये थे। वे सहज ही

* अध्यापक क्षितिमोहन महाशयने नाथ-योगियोंमें प्रचलित तथा दादू दयालके संग्रहोंमें प्राप्त ऐसे कुछ पदोंको संग्रह किया है। यथा,

नाथयोगियोंके पद—उठ्या सारन् बैठ्या सारन् जागत सूता ।

तीन भुवने विछाड़ना जारु कोइ जाबिरे पूता ॥

दादूका पद—उठ्या सारं बैठ विचारं संभारं जागता सूता ।

तीन लोक तत जारु विचारन कहाँ जाइगा पूता ॥

योगियोंका (मायाका वाय) —उठ्या मारुम बैठ्या मारुम मारुम जागा सूता ।

तीन धोम काम जारु विछाड़म कोइ जाबिरे पूता ॥

दादूका (माया वाक्य) —उठ्या मारुं बैठ्या मारुं मारुं जागत सूता ।

तीन भवन भगजारु पसारुं कहाँ जायगा पूता ॥

योगियोंका (गोरखनाथका उत्तर) —उठ्या खंडुम बैठ्या खंडुम खंडुम जागत सूता ।

तीन भुवने खेलुम आलम तयतो अवधूता ॥

दादूका पद —ऊभा खंडू बैठा खंडू, खंडू जागत सूता ।

तीन भुवनेते भिन है खेलू तौ गोरख अवधूता ॥

निर्गुण ब्रह्मको कियो समाधू । तब ही चले कबीरा साधू ।

सुर्ककी राह खोज सब छाड़ी । हिन्दूके करनीते पुनि न्यारी । — दादू

भक्तोंके ऐसे अनेक पद मिलते हैं जो कई सन्तोंके नामसे प्रचलित हैं। जो पद कबीरके नामसे चल रहा है वही दादूके नामसे, फिर वही रैदास या अन्य किसी साधकके नामसे भी। ऐसे पदोंके विषयमें समझना चाहिए कि ये पद पूर्ववर्ती साधकोंके अनुभव हैं जिन्हें परवर्ती साधक या साधकोंने भी स्वीकार कर लिया है। ये भक्त कविता करनेके लिए पद नहीं लिखा करते थे इसीलिए इनमें उस प्रकारकी सावधानीका अभाव है जो कवि अपनी रचनाके अभिनव चमत्कार प्रदर्शनके लिए अत्यावश्यक समझता है। कबीरदासकी यह साखी सहजमतके आचार्यकी याद दिला देती है—

जिहि बन सीह संचरै, पंखि उड़ै नहि जाय ।

रैनि दिवसका गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ ॥

सरहपादकी साखी है—

जहि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश !

तहि बट चित्त विशाम करु, सरहै कहिअ उमेश ॥

असलमें साखी (साक्षी) का मतलब ही यह है कि पूर्वतर साधकोंकी बात-पर कबीरदास अपनी साखी या गवाही दे रहे हैं। अर्थात् इस सत्यका अनुभव वे भी कर चुके हैं। जो लोग कबीरदासको साधक न समझकर केवल कवि समझना चाहते हैं वे प्रायः कुछ ऐसी उल्टी सीधी बातें कर जाते हैं जो उनके पाण्डित्यके लिए शोभाजनक नहीं होती। कभी कभी हास्यास्पद भावसे कबीरदासको शास्त्रज्ञानहीन, सुनी सुनाई बातोंका गढ़नेवाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युगमें जुलाहे, मोची, धुनिये और अन्यान्य नीची कही जानेवाली जातियोंके लिए शास्त्र और वेदका दरवाजा खुला था और कबीरदास आदिने जान बूझकर उनकी अवहेलना की थी ! सच पूछा जाय तो शास्त्रज्ञान, तत्त्वज्ञानके मार्गमें सब समय सहायक ही नहीं होता और कभी कभी तो उस युगकी तथोक्त नीच जातियोंमेंसे आये हुए महापुरुषोंका शास्त्रीय तर्कजालसे मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है। इन संस्कारोंसे वंचित रहनेके कारण ही वे सब जगहसे सहज सत्यको सहज हाँ ले सकते थे। वे रुढ़ियों और मिथ्या विद्वान्सके शिकार नहीं हुए। वे उस वे मतलबकी निजत्व-बुद्धिके भी शिकार नहीं हुए जो दूसरोंकी लिखी हुई बातको तोड़ मरोड़कर कहनेमें दूसरोंसे ग्रहण करनेके महादोषसे अपनेको मुक्त समझती है। उनमें ग्रहण करनेकी भी शक्ति थी, और करानेकी भी शक्ति थी इसी लिए वे महान् थे।

कबीरदास आदि साधकोंने नाथपंथियों और सहजयानियोंके बहुतसे शब्द, पद और दोहे ज्योंके त्यों स्वीकार कर लिये थे * । इनमें यज्ञ तन्त्र नाम मात्रके परिवर्तन भी हैं । इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कबीर, आदिने अनेक बातें पूर्ववर्ती साधकोंसे ग्रहण की थीं, फिर भी कबीरकी साधना वही नहीं थी जो इन योगियों या सहजयानियोंकी थी । कबीर आदिने योगियों और सहजयानियोंके पारिभाषिक शब्दोंकी अपने ढंगपर व्याख्या की । जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रोंसे गृहीत होकर भी उनके राम 'दशरथ-सुत' नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनका सहज शून्य, षट्चक्र, समाधि, इडा, पिंगला आदि भी सहजयानियों और योगियोंके इन्हीं शब्दोंसे भिन्न अर्थ रखते थे । इतना ही नहीं सूक्तियोंकी साधनासे गृहीत शब्दोंकी भी उन्होंने अपने ढंगपर व्याख्या की थी । क्योंकि वे किसी शास्त्रविशेष या सम्प्रदाय विशेषके संस्कारोंसे जकड़े हुए नहीं थे और जैसा कि दादूने कहा है, कबीरदासने निर्गुण ब्रह्मकी समाधिके विषयमें मुसलमानोंका रास्ता छोड़ दिया था और हिन्दुओंके कर्मकलापसे भी अलग हो गये थे। वे सहज ही

* अध्यापक क्षितिमोहन महाशयने नाथ-योगियोंमें प्रचलित तथा दादू दयालके संग्रहोंमें प्राप्त ऐसे कुछ पदोंकी संग्रह किया है । यथा,

नाथयोगियोंके पद—उठ्या सारन बैठ्या सारन जागत सूता ।

तीन भुवने बिछाईना जाल कोइ जाबिरे पूता ॥

दादूका पद—उठ्या सार बैठ विचार संभार जागत सूता ।

तीन लोक तत जाल विडारन कहाँ जाइगा पूता ॥

योगियोंका (मायाका वाय)—उठ्या मारुम बैठ्या मारुम मारुम जागा सूता ।

तीन घोमे काम जाल बिछाइम कोइ जाबिरे पूता ॥

दादूका (माया वाक्य)—उठ्या मारु बैठ्या मारु मारु जागत सूता ।

तीन भवन भगजाल पसारु कहाँ जायगा पूता ॥

योगियोंका (गोरखनाथका उत्तर)—उठ्या खंडुम बैठ्या खंडुम खंडुम जागत सूता ।

तीन भुवने खेलुम आलस तयतो अवधूता ॥

दादूका पद—ऊमा खंडू बैठा खंडू, खंडू जागत सूता ।

तीन भुवने भिन है खेलू तौ गोरख अवधूता ॥

निर्गुण ब्रह्मको कियो समाधू । तब ही चले कबीरा साधू ।

तुर्ककी राह खोज सब छाड़ी । हिन्दूके करनीते पुनि न्यारी ।—दादू

उस स्थानपर विश्राम कर सकते थे जो संप्रदायोंसे अतीत है, जहाँ अल्लाह और रामकी गम नहीं। वे साधनाको सहज भावसे देखना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि प्रतिदिनके जीवनके साथ चरम साधनाका कहीं भी विरोध हो। दैनिक जीवन और शाश्वत साधनाका यह जो अविरोध भाव है वही कबीरका 'सहज पंथ' है। उनके युगमें यह शब्द बहुत प्रचलित था। जैसे आजकल 'संस्कृति' शब्द बहुल प्रचारके कारण कुछ सस्ता हो गया है वैसे ही उन दिनों 'सहज' शब्द भी सस्ता हो गया था। लोग गली कूचे 'सहज-सहज' कहते फिरते थे। इस शब्दकी व्याख्या भी निश्चय ही नाना भौतिसे की जाती रही होगी। कबीरदास इससे चिढ़कर एक जगह कहते हैं कि 'सहज-सहज' तो सभी कहते हैं पर सहजको पहचाना किसीने नहीं। सहज उसीको कह सकते हैं जो सहज ही विषयका त्याग कर सके^१। इसके लिए घर-बार छोड़नेकी जरूरत नहीं। सम्प्रदायप्रथित ब्रह्माण्डम्बरकी भी कोई आवश्यकता नहीं। और जैसा कि प्रसिद्ध साधक रज्जवने कहा है, योगमें भी भोग रह सकता है और भोगमें भी योग हो सकता है^२। वैरागी भी झुब सकते हैं और गृहस्थ भी तर सकते हैं। इस प्रकार यह सहज पंथ 'सहजयान' नामक संप्रदाय विशेषसे एकदम भिन्न है। इसी तरह जब कबीर 'शून्य' शब्दका व्यवहार करते हैं तो 'कुछ नहीं' के अर्थमें कभी नहीं करते। भला जो कुछ नहीं है उसका नाम ही क्या हो सकता है? उस 'कुछ नाहीं' का जो कुछ भी नाम दिया जायगा वह, दादू दयालने ठीक ही कहा है, कि झूठ होनेको बाध्य है^३।

१ सूर नर भुनिजन औलिया, ए सज्ज उरली तीर ।

अलह रामकी गम नहीं, तहं धर किया कबीर ॥

२ सहज सहज सब ही कहे, सहज न चीन्है कोई ।

जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥

३ एक जोगमें भोग है, एक भोगमें जोग ।

इक बूझहि वैरागमें, इक तरहि सो गृही लोग ॥

४ कुछ नाहींका नाँव क्या, जो धरिये सो भूठ ।

और

कुछ नाहींका नाँव धरि, मरमा सब संसार ।

साँच भूठ समझै नहीं, ना कुछ किया विचार ॥—दादू

यह शून्य शब्द बहुत मनोरंजक है। बौद्ध महायान दार्शनिकों की दो शाखाएँ हैं। एक मानती है कि संसार में सब कुछ शून्य है, किसी की भी सत्ता नहीं और दूसरी शाखा वाले मानते हैं कि जगत् के सभी पदार्थ बाह्यतः असत् हैं पर चित्त के निकट सभी सत् हैं। एकको शून्यवाद कहते हैं और दूसरीको विज्ञानवाद। नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्य और अशून्य) भी नहीं कह सकते। फिर यह भी नहीं कह सकते कि वह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है। इसी भाव की प्रशंसिके लिए शून्यता का व्यवहार होता है—

शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्यमिति वा भवेत् ।

उभयं नेमयं चेति, प्रज्ञप्स्यर्थं तु कथ्यते ॥

इस प्रकार यह सिद्धान्त बहुत कुछ अनिर्वचनीयता-वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। महायान मत की प्रज्ञापारमिताओं की थका देने वाली पुनरुक्तियों में बार-बार यही दुहराया गया है कि वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है*। यह शून्यवाद इतना प्रचलित हुआ कि उस युग के सभी साधक इस शून्य का प्रयोग करने लगे। सबने अपने अपने मतानुकूल अर्थ किये। योगियों के छद्मचक्र के सबसे ऊपरी चक्र को शून्य-चक्र या सहस्रदल पद्म कहते हैं। इस प्रकार योगियों ने भी शून्य को ही परम लक्ष्य माना है पर उसका अर्थ बदल कर। कबीरदास आदि निर्गुण मत के साधकों ने भी इस शब्द का व्यवहार अपने अपने ढंग पर किया है। अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने दादू की अनेकानेक वाणियों की जाँच करने के बाद देखा है कि दादू का शून्य 'कुछ नहीं' तो है ही नहीं, अधिकन्तु, वह 'पूर्ण सरोवर', 'आत्मा-सरोवर' और 'हरि-सरोवर' है। दादू के टीकाकारों ने कहीं शून्य शब्द का अर्थ शान्त निर्वाण पद किया है और कहीं लय लीन समाधि की अवस्था।

इस विषय में तो कोई सन्देह ही नहीं कि शास्त्रज्ञान से वंचित होने पर भी इस श्रेणी के साधक बहुश्रुत थे। इस बहुश्रुतता के कारण वे अनायास ही अनुभव-सम्मत सत्य को संग्रह कर सकते थे। इसी लिए उनका मत न तो किसी आचार्य विशेष के मत का दूब-दू उलथा है और न बेसिर-पैर की बातों की बेमेल खिचड़ी। सभी विषयों में उनका आत्मोपलब्ध मत है। वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म उपास्य नहीं हैं क्योंकि उन्होंने एकाधिक बार उसमें गुण का आरोप किया

* देखिए, परिशिष्ट: बौद्ध साहित्य।

उस स्थानपर विश्राम कर सकते थे जो संप्रदायोंसे अतीत है, जहाँ अल्लाह और रामकी गम नहीं। वे साधनाको सहज भावसे देखना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि प्रतिदिनके जीवनके साथ चरम साधनाका कहीं भी विरोध हो। दैनिक जीवन और शाश्वत साधनाका यह जो अवरोध भाव है वही कबीरका 'सहज पंथ' है। उनके युगमें यह शब्द बहुत प्रचलित था। जैसे आजकल 'संस्कृति' शब्द बहुत प्रचारके कारण कुछ सस्ता हो गया है वैसे ही उन दिनों 'सहज' शब्द भी सस्ता हो गया था। लोग गली कूचे 'सहज-सहज' कहते फिरते थे। इस शब्दकी व्याख्या भी निश्चय ही नाना भौतिसे की जाती रही होगी। कबीरदास इससे चिढ़कर एक जगह कहते हैं कि 'सहज-सहज' तो सभी कहते हैं पर सहजको पहचाना किसीने नहीं। सहज उसीको कह सकते हैं जो सहज ही विषयका त्याग कर सके।^१ इसके लिए घर-बार छोड़नेकी जरूरत नहीं। सम्प्रदायप्रथित ब्रह्मण्डम्बरकी भी कोई आवश्यकता नहीं। और जैसा कि प्रसिद्ध साधक रज्जवने कहा है, योगमें भी भोग रह सकता है और भोगमें भी योग हो सकता है।^२ वैरागी भी झूब सकते हैं और गृहस्थ भी तर सकते हैं। इस प्रकार यह सहज पंथ 'सहजयान' नामक संप्रदायविशेषसे एकदम भिन्न है। इसी तरह जब कबीर 'शून्य' शब्दका व्यवहार करते हैं तो 'कुछ नहीं' के अर्थमें कभी नहीं करते। भला जो कुछ नहीं है उसका नाम ही क्या हो सकता है ? उस 'कुछ नहीं' का जो कुछ भी नाम दिया जायगा वह, दादू दयालने ठीक ही कहा है, कि झूठ होनेको बाध्य है^३।

१ सूर नर मुनिजन औलिया, ए सब उरली तीर ।

अल्लाह रामकी गम नहीं, तहं घर किया कबीर ॥

२ सहज सहज सब ही कहे, सहज न चीन्है कोई ।

जिन सहजै विषया तजौ, सहज कहीजै सोइ ॥

३ एक जोगमें भोग है, एक भोगमें जोग ।

स्क बूझहिं वैरागमें, इक तरहिं सो गृही लोग ॥

४ कुछ नाहींका नाँव क्या, जो धरिये सो भूठ ।

और

कुछ नाहींका नाँव धरि, भरमा सब संसार ।

सौँच भूठ समझै नहीं, ना कुछ किया विचार ॥—दादू

यह शून्य शब्द बहुत मनोरंजक है। बौद्ध महायान दार्शनिकों की दो शाखाएँ हैं। एक मानती है कि संसार में सब कुछ शून्य है, किसी की भी सत्ता नहीं और दूसरी शाखा वाले मानते हैं कि जगत् के सभी पदार्थ बाह्यतः असत् हैं पर चित्त के निकट सभी सत् हैं। एकको शून्यवाद कहते हैं और दूसरी को विशान-वाद। नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्य और अशून्य) भी नहीं कह सकते। फिर यह भी नहीं कह सकते कि वह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है। इसी भाव की प्रशंसित के लिए शून्यता का व्यवहार होता है—

शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्यमिति वा भवेत् ।

उभयं नोभयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥

इस प्रकार यह सिद्धान्त बहुत कुछ अनिर्वचनीयता-वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। महायान मत की प्रज्ञापारमिताओं की थका देने वाली पुनरुक्तियों में बार-बार यही दुहराया गया है कि वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है *। यह शून्यवाद इतना प्रचलित हुआ कि उस युग के सभी साधक इस शून्य का प्रयोग करने लगे। सबने अपने अपने मतानुकूल अर्थ किये। योगियों के षट्चक्र के सबसे ऊपरी चक्र को शून्य-चक्र या सहस्रदल पद्म कहते हैं। इस प्रकार योगियों ने भी शून्य को ही परम लक्ष्य माना है पर उसका अर्थ बदल कर। कबीरदास आदि निर्गुण मत के साधकों ने भी इस शब्द का व्यवहार अपने अपने ढंग पर किया है। अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने दादू की अनेकानेक बाणियों की जाँच करने के बाद देखा है कि दादू का शून्य 'कुछ नहीं' तो है ही नहीं, अधिकन्तु, वह 'पूर्ण सरोवर' 'आत्मा-सरोवर' और 'हरि-सरोवर' है। दादू के टीकाकारों ने कहीं शून्य शब्द का अर्थ शान्त निर्वाण पद किया है और कहीं लय लीन समाधिकी अवस्था।

इस विषय में तो कोई सन्देह ही नहीं कि शास्त्रज्ञान से वंचित होने पर भी इस श्रेणी के साधक बहुश्रुत थे। इस बहुश्रुतता के कारण वे अनायास ही अनुभव-सम्मत सत्य को संग्रह कर सकते थे। इसी लिए उनका मत न तो किसी आचार्य विशेष के मत का दृढ़-बद्ध उत्था है और न बेसिर-पैर की बातों की बेमेल खिचड़ी। सभी विषयों में उनका आत्मोपलब्ध मत है। वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म उनके उपास्य नहीं हैं क्योंकि उन्होंने एकाधिक बार उसमें गुण का आरोप किया है।

* देखिए, परिशिष्ट: बौद्ध साहित्य।

उस स्थानपर विश्राम कर सकते थे जो संप्रदायोंसे अतीत है, जहाँ अल्लाह और रामकी गम नहीं। वे साधनाको सहज भावसे देखना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि प्रतिदिनके जीवनके साथ चरम साधनाका कहीं भी विरोध हो। दैनिक जीवन और शाश्वत साधनाका यह जो अवरोध भाव है वही कबीरका 'सहज पंथ' है। उनके युगमें यह शब्द बहुत प्रचलित था। जैसे आजकल 'संस्कृति' शब्द बहुत प्रचारके कारण कुछ सस्ता हो गया है वैसे ही उन दिनों 'सहज' शब्द भी सस्ता हो गया था। लोग गली कूचे 'सहज-सहज' कहते फिरते थे। इस शब्दकी व्याख्या भी निश्चय ही नाना भौतिसे की जाती रही होगी। कबीरदास इससे चिढ़कर एक जगह कहते हैं कि 'सहज-सहज' तो सभी कहते हैं पर सहजको पहचाना किसीने नहीं। सहज उसीको कह सकते हैं जो सहज ही विषयका त्याग कर सके^१। इसके लिए घर-बार छोड़नेकी जरूरत नहीं। सम्प्रदायप्रथित ब्रह्माण्डम्बरकी भी कोई आवश्यकता नहीं। और जैसा कि प्रसिद्ध साधक रज्जवने कहा है, योगमें भी भोग रह सकता है और भोगमें भी योग हो सकता है^२। वैरागी भी डूब सकते हैं और गृहस्थ भी तर सकते हैं। इस प्रकार यह सहज पंथ 'सहजयान' नामक संप्रदाय विशेषसे एकदम भिन्न है। इसी तरह जब कबीर 'शून्य' शब्दका व्यवहार करते हैं तो 'कुछ नहीं' के अर्थमें कभी नहीं करते। भला जो कुछ नहीं है उसका नाम ही क्या हो सकता है? उस 'कुछ नहीं' का जो कुछ भी नाम दिया जायगा वह, दादू दयालने ठीक ही कहा है, कि झूठ होनेको बाध्य है^३।

१ सूर नर मुनिजन औलिया, ए सब उरली तीर ।

अलह रामकी गम नहीं, तहं घर किया कबीर ॥

२ सहज सहज सब ही कहे, सहज न चीन्है कोइ ।

जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥

३ एक जोगमें भोग है, एक भोगमें जोग ।

इक जूझहिं वैरागमें, इक तरहिं सो गृही लोग ॥

४ कुछ नाहींका नाँव क्या, जो धरिये सो भूठ ।

और

कुछ नाहींका नाँव धरि, भरमा सब संसार ।

साँच भूठ समझै नहीं, ना कुछ किया विचार ॥—दादू

यह शून्य शब्द बहुत मनोरंजक है। बौद्ध महायान दार्शनिकोंकी दो शाखायें हैं। एक मानती है कि संसारमें सब कुछ शून्य है, किसीकी भी सत्ता नहीं और दूसरी शाखावाले मानते हैं कि जगत्के सभी पदार्थ बाह्यतः असत् हैं पर चित्तके निकट सभी सत् हैं। एकको शून्यवाद कहते हैं और दूसरीको विज्ञान-वाद। नागार्जुनने शून्यकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्य और अशून्य) भी नहीं कह सकते। फिर यह भी नहीं कह सकते कि वह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है। इसी भावकी प्रशंसिके लिए शून्यताका व्यवहार होता है—

शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्यमिति वा भवेत् ।

उभयं नेमयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥

इस प्रकार यह सिद्धान्त बहुत कुछ अनिर्वचनीयता-वादका रूप ग्रहण कर लेता है। महायान मतकी प्रज्ञापारमिताओंकी थका देनेवाली पुनरुक्तियोंमें बार-बार यही दुहराया गया है कि वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है*। यह शून्यवाद इतना प्रचलित हुआ कि उस युगके सभी साधक इस शून्यका प्रयोग करने लगे। सबने अपने अपने मतानुकूल अर्थ किये। योगियोंके षट्चक्रके सबसे ऊपरी चक्रको शून्य-चक्र या सहस्रदल पद्म कहते हैं। इस प्रकार योगियोंने भी शून्यको ही परम लक्ष्य माना है पर उसका अर्थ बदल कर। कबीरदास आदि निर्गुण मतके साधकोंने भी इस शब्दका व्यवहार अपने अपने ढंगपर किया है। अध्यापक क्षितिमोहन सेनने दादूकी अनेकानेक वाणियोंकी जाँच करनेके बाद देखा है कि दादूका शून्य 'कुछ नहीं' तो है ही नहीं, अधिकन्तु, वह 'पूर्ण सरोवर' 'आत्मा-सरोवर' और 'हरि-सरोवर' है। दादूके टीकाकारोंने कहीं शून्य शब्दका अर्थ शान्त निर्वाण पद किया है और कहीं लय लीन समाधिकी अवस्था।

इस विषयमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि शास्त्रज्ञानसे वंचित होने पर भी इस श्रेणीके साधक बहुश्रुत थे। इस बहुश्रुतताके कारण वे अनायास ही अनुभव-सम्मत सत्यको संग्रह कर सकते थे। इसी लिए उनका मत न तो किसी आचार्य विशेषके मतका दूब-दूब उल्था है और न बेसिन्-पैरकी बातोंकी बेमेल खिचड़ी। सभी विषयोंमें उनका आत्मोपलब्ध मत है। वेदान्तियोंके निर्गुण ब्रह्म उनके उपास्य नहीं हैं क्योंकि उन्होंने एकाधिक बार उसमें गुणका आरोप किया है।

* देखिए, परिशिष्टः बौद्ध साहित्य।

प्रेमपर इन सन्तोंने इतना अधिक जोर दिया है कि भक्तके बिना भगवान्को भी अपूर्ण बताया है। यह भावना केवल ज्ञानगम्य ब्रह्मको आश्रय करके नहीं चल सकती। भक्तरूपी प्रियके लिए भगवान्रूपी प्रियके सदा व्याकुल रहनेकी कल्पना निर्गुण और निरासक्त ब्रह्मको आश्रय करके नहीं चल सकती, प्रेमके इस रूपके लिए एक संसक्त और व्यक्तिगत भगवान्की पूर्ण कल्पना नितान्त आवश्यक है। यदि इन्हें विशुद्ध ज्ञानमार्गी मान लिया जायगा तो उक्त बात अबोध्य हो जायगी। जिन पंडितोंने इन संतोंको ज्ञानाश्रयी कहा है वे सचमुच इस चक्रमें पड़ गये हैं और तार्त्विक दृष्टिसे विचार करने जाकर यह कहनेको बाध्य हुए हैं कि “न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी” (—पं० रामचंद्र शुक्ल)। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ये साधक अपने विचारोंमें स्पष्ट नहीं थे। इनकी प्रेम-साधना साधारणतः निम्नलिखित आकारोंमें प्रकट हुई है—

(१) भगवान्को अन्तरमें ही रखना चाहिए, बाहर प्रदर्शन करनेपर वह दिखानेकी चीज हो जाता है। (२) इस रसको जिसने पाया है वही जला है। (३) इस प्रेम-लीलामें भक्तके समान ही भगवान् भी उत्सुक हैं। (४) जिसने प्रेमके क्षेत्रमें भगवान्का योग पाया है वही वास्तवमें योगी है। (५) इस प्रेमकी ज्वालामें जल कर ही भगवान्ने अनाहत संगीतकी तरह इस सुंदर सृष्टिकी रचना की है। (६) पवन, जल, आकाश, धरती, सूर्य चंद्र ये सभी भगवान्के प्रेमके रूप हैं। इत्यादि।

प्रेमके इस असीम आनंदको प्रकट करनेके लिए इन साधकोंमें एक पारिभाषिक शब्द प्रचलित है—सबद या शब्द। यह शब्द भी बहुत पुराना है और नाना मतोंमें नाना रूप ग्रहण कर चुका है। निर्गुणिया सन्तोंके मतसे यह सारा विश्व ‘सबद’ में बँधा है। सबदके इस अनादि संगीतकी तानको ‘सुरति’ और ताल और लयको ‘निरति’ कहते हैं। सुरति और निरति मिल कर ही सबको पूर्ण करते हैं। सुर असीम है, ताल सीमा। तालसे बँध कर ही सुर रूपपरिग्रह करता है, नहीं तो हम उसे अनुभव नहीं कर सकते। असीम परमात्मा भी सुरति निरतिके सुर-तालमें बँध कर अपनेको प्रकट करता है। जहाँ कहीं आविर्भाव है, रूपकी अभिव्यक्ति है वही सीमा और असीमका योग है। गति असीम है पर जब वह नृत्य आदिका रूप धारण करती है तब समझना चाहिए कि उसका योग पदसंचार आदिकी सीमाके साथ हुआ है। इसी लिए यह सार

है, यदि वह जगद्गुरुकी अनन्त सत्तामें लौ लगा सके तो सहज ही अभिनव लीलाका रसास्वाद कर सके*। इस प्रकार 'लौ'का अर्थ है चित्तवृत्तियोंको अन्यत्रसे हटा कर एक अनन्त प्रेममय भगवत्सत्तामें युक्त करना जहाँसे भक्त सदा अपना अभिलषित प्रेम-रस पान करता रहे। यह वही अवस्था है जिसे भागवत गण शम-बुद्धिमूलक समाधि कहते हैं और जिसकी चर्चा आगे की गई है।

इस प्रकारके प्रेममें लगे हुए ये सन्त कभी प्रेमको शराब बताते हैं और उस मदसे मस्त बने रहनेकी बात करते हैं। इस प्रकारके कथनोंको भी सूफी साधनाका प्रभाव सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है। कबीरदास आदि सत्संगी जीव थे और अनेक बड़े बड़े सूफी साधकोंसे उनकी प्रत्यक्ष धनिष्ठता हो। ऐसी अवस्थामें यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकारकी बातोंमें सूफी मतका प्रभाव नहीं ही है। ऐसा प्रभाव होना असंभव नहीं है। पर कबीरदासके पदोंके साथ जब उनके पूर्ववर्ती सिद्धोंके पदोंकी तुलना की जाती है तब इस जातिके पदोंमें आश्चर्यजनक साम्य दिखाई देता है। असल बात तो यह है कि सहजयानमें 'मदिरा'का प्रचलन भी खूब हो चुका था। सिद्ध लोग भी एक प्रकारकी मदिराकी चर्चा करते हैं जिसका स्वर हू-म-हू कबीर जैसा होता है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि ऐसे पदोंमें कबीरदास प्रायः अवधूत या अवधूतको संबोधन करते हैं। कबीरदासका नियम-सा बँधा हुआ था कि जब वे जिस विषयकी बात करते थे, तब उसके विशेष मान्य आचार्यको संबोधन करते थे। वेदकी बात करते समय पंडितको, कुरानकी बात करते समय मुल्लाको, भक्तिकी बात करते समय साधुको वे प्रायः पुकार लेते थे। संबोधन करनेके बाद प्रायः उनके पदोंमें संबोध्यकी विद्याकी नई व्याख्या बताई जाती है और उसकी रुढ़ियोंपर आघात किया जाता है। ऐसी अवस्थामें मदिराके रूपकोंमें अवधूतको पुकारनेका विशेष अर्थ है। वह अवधूतकी ही मदिराकी नई व्याख्या है। सूफी साधकोंकी चीज़की व्याख्या नहीं। पर यह हो सकता है कि इस नई व्याख्यामें सूफी साधनाकी बात भी अप्रत्यक्ष रूपसे आ गई हो।

अब तक जो हम कबीर आदि साधकों, योगियों और सिद्धोंकी बात करते आ रहे हैं उसका यह अर्थ नहीं है कि मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि कबीर आदिने

* जहाँ जगद्गुरु रहते हैं, तहाँ जो सुरति समाई।

तौ इन नैनेहु छलिटि करि, कौतिक देखे आइ ॥

है, यदि वह जगद्गुरुकी अनन्त सत्तामें लौ लगा सके तो सहज ही अभिनव लीलाका रसास्वाद कर सके*। इस प्रकार 'लौ'का अर्थ है चित्तवृत्तियोंको अन्यत्रसे हटा कर एक अनन्त प्रेममय भगवत्सत्तामें युक्त करना जिसे भक्त सदा अपना अभिलषित प्रेम-रस पान करता रहे। यह वही अवस्था है जिसे भागवत गण शम-बुद्धिमूलक समाधि कहते हैं और जिसकी चर्चा आगे की गई है।

इस प्रकारके प्रेममें लगे हुए ये सन्त कभी प्रेमको शराब बताते हैं और उस मदसे मस्त बने रहनेकी बात करते हैं। इस प्रकारके कथनोंको भी सूफी साधनाका प्रभाव सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है। कबीरदास आदि सत्संगी जीव थे और अनेक बड़े बड़े सूफी साधकोंसे उनकी प्रत्यक्ष घनिष्ठता थी। ऐसी अवस्थामें यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकारकी बातोंमें सूफी मतका प्रभाव नहीं ही है। ऐसा प्रभाव होना असंभव नहीं है। पर कबीरदासके पदोंके साथ जब उनके पूर्ववर्ती सिद्धोंके पदोंकी तुलना की जाती है तब इस जातिके पदोंमें आश्चर्यजनक साम्य दिखाई देता है। असल बात तो यह है कि सहजयानमें 'मदिरा'का प्रचलन भी खूब हो चुका था। सिद्ध लोग भी एक प्रकारकी मदिराकी चर्चा करते हैं जिसका स्वर हू-ब-हू कबीर जैसा होता है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि ऐसे पदोंमें कबीरदास प्रायः अवधूत या अवधूतको संबोधन करते हैं। कबीरदासका नियम-सा बंधा हुआ था कि जब वे जिस विषयकी बात करते थे, तब उसके विशेष मान्य आचार्यको संबोधन करते थे। वेदकी बात करते समय पंडितको, कुरानकी बात करते समय मुल्लाको, भक्तिकी बात करते समय साधुको वे प्रायः पुकार लेते थे। संबोधन करनेके बाद प्रायः उनके पदोंमें संबोध्यकी विद्याकी नई व्याख्या बताई जाती है और उसकी रूढ़ियोंपर आघात किया जाता है। ऐसी अवस्थामें मदिराके रूपकोंमें अवधूतको पुकारनेका विशेष अर्थ है। वह अवधूतकी ही मदिराकी नई व्याख्या है। सूफी साधकोंकी चीज़की व्याख्या नहीं। पर यह हो सकता है कि इस नई व्याख्यामें सूफी साधनाकी बात भी अप्रत्यक्ष रूपसे आ गई हो।

अब तक जो हम कबीर आदि साधकों, योगियों और सिद्धोंकी बात करते आ रहे हैं उसका यह अर्थ नहीं है कि मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि कबीर आदिने

* जहाँ जगद्गुरु रहत है, तहाँ जो सुरति समाइ ।

तौ इन नैनहु उलटि करि, कौतिक देखे आइ ॥

वही कहा है जो इन योगियों और सिद्धों ने। मैं केवल इस बात पर जोर देता रहा हूँ कि जहाँ तक उनकी उपस्थापन पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार, छन्द, पद आदिका संबंध है वे सन्त सौ फी सदी भारतीय परम्परामें पड़ते हैं। उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़ि-विरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अवखड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकोंकी देन हैं। परन्तु उनमेंकी आत्मा उनकी अपनी है। उसमें भक्तिक रस है और वेदान्तका ज्ञान है। इस भक्तिरसकी अलोचना हम आगे करेंगे। केवल एक सवाल और रह जाता है कि कबीरके पहले भी तो ये बातें वर्तमान थीं फिर वे उतनी ही प्रभावशाली क्यों नहीं हो सकीं जितनी कबीर आदिकी बातें हो सकीं ? इस बातके कई तरहके जवाब दिये गये हैं। परन्तु इसका कारण निस्सन्देह राजनीतिक सत्ता थी। किसी किसीने कहा है कि मुसलमानोंके आगमनके पूर्व हिन्दू राजा इन तथाकथित नीच जातियोंकी आशा आकांक्षाको पनपने नहीं देना चाहते थे और किसी दूसरेने कहा है कि पहले तो ये छोटी समझी जानेवाली जातियाँ अकेले हिन्दुओंसे ही सताई जा रही थीं, अब मुसलमानोंसे भी सताई जाने लगीं; इस प्रकार उन्हें अपनी स्थितिको सुधारकर अधिकार प्राप्त करनेके नये प्रयत्न करने पड़े। ये दोनों ही बातें युक्तियुक्त नहीं जँचती। मेरा विचार यह है कि ऐसी बातें समाजके किसी न किसी स्तरमें वर्तमान तो जरूर थीं पर अधिकारमें उन लोगों द्वारा प्रचारित होती थीं जो शास्त्र और वेदको नहीं मानते थे। फिर जनसाधारणमें प्रचलित पौराणिक ठोस रूपोंसे उनका कोई संबंध नहीं था। कबीरदासेने गुरु रामानंदसे शिष्यत्व ग्रहण करके जनसाधारणमें उनकी शास्त्र-सिद्धताका विश्वास पैदा किया और राम नामको अपना कर जन-साधारणके परिचित भगवान्से अपने भगवानकी एकात्मता साबित की। उन्होंने रूपकों-द्वारा योगमार्ग, वैष्णव मत आदि अत्यधिक प्रचलित जनमतकी अपने ढँगपर व्याख्या करके जनसाधारणका विश्वास अर्जन कर लिया। इस प्रकार एक बार शास्त्र और लोक-विश्वासका जरा-सा-नाम-मात्रका सहारा पाते ही यह मत देशके इस सिरेसे उस सिरे तक फैल गया।

भक्तोंकी परम्परा

हमने देख लिया है कि हमारे आलोच्य साहित्यकी आरम्भिक अवस्थामें पूर्व और पश्चिमकी भिन्न स्वभाववाली साधनाओंका सम्मिलन बड़े वेगसे हो रहा था। यह एक विराट् जन-आन्दोलन था। दर्शन और धर्मशास्त्रकी सूक्ष्म चिन्तायें इसको ऊपर ऊपरसे ही प्रभावित कर सकी थीं। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐहिकतापरक या सेक्यूलर काव्यके सम्बन्धमें भी यह युग अपना रास्ता अधिकांशमें स्वयं तै कर रहा था। पूर्वके सहजयानी और नाथपंथियोंकी साधनामूलक रचनायें तथा पश्चिमकी अपभ्रंश-धाराकी वीरत्व, नीति और शृंगारविषयक कवितायें उस भावी जन-साहित्यकी सृष्टि कर रही थीं जिसके जोड़का साहित्य सम्पूर्ण भारतीय इतिहासमें दुर्लभ है। यह एक नई दुनिया है, और जैसा कि डाक्टर ग्रियर्सनने कहा है, “कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बादकी शताब्दियोंका साहित्य पढ़नेका मौका मिला है उस भारी व्यवधान (Gap) को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो (पुरानी और नई) धार्मिक भावनाओंमें विद्यमान है। हम अपनेको ऐसे धार्मिक आन्दोलनके सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनोंसे कहीं अधिक विशाल है जिन्हें भारत-वर्षने कभी देखा है, यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्मके आन्दोलनसे भी अधिक विशाल है। क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युगमें धर्म ज्ञानका नहीं बल्कि भावावेशका विषय हो गया था। यहाँसे हम साधना और प्रेमोत्थास (Mysticism and rapture) के देशमें आते हैं और ऐसी आत्माओंका साक्षात्कार करते हैं जो काशीके दिग्गज पंडितोंकी जातिके नहीं, बल्कि जिनकी समता मध्ययुगके यूरोपियन भक्त बर्नर्ड ऑफ क्लेयरबॉक्स, थॉमस ए. केम्पिन और सेंट थेरिसासे है।” जो लोग इस युगके वास्तविक

विकासको नहीं सोचते उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया। स्वयं डाक्टर ग्रियर्सनने ही लिखा है कि “बिजलीकी चमकके समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतोंके अन्धकारके ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँसे आई और कोई भी इसके प्रादुर्भावका काल निश्चित नहीं कर सकता, इत्यादि।” स्वयं डा० ग्रियर्सनका अनुमान है कि वह ईसाइयतकी देन है। पर वह बात अत्यन्त उपहासास्पद है और यह कहना तो और भी उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिन्दू मन्दिरोंको नष्ट करने लगे, तो निराश होकर हिन्दू लोग भजन-भावमें जुट गये। मैंने इन दोनोंका यथाशक्ति अपनी ‘सूर-साहित्य’ नामक पुस्तकमें खण्डन कर दिया है। वहाँ उन बातोंको दुहरानेकी जरूरत नहीं क्योंकि इतःपूर्व हम देख चुके हैं कि भारतीय चिन्ता स्वभावतः ही इस ओर अग्रसर होती गई है। लेकिन जिस बातको ग्रियर्सनने अचानक बिजलीकी चमकके समान फैल जाना लिखा है वह वैसी नहीं। उसके लिए सैकड़ों वर्षसे मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। फिर भी उसका प्रादुर्भाव तो एकाएक हो ही गया। इस एकाएक प्रादुर्भावका कारण विचारणीय रह जाता है। पिछले वक्तव्यको समाप्त करते समय इस कारणकी ओर इशारा किया गया था। वह कारण था शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओंसे इनका योग होना। वे शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिणके वैष्णव थे।

सुदूर दक्षिणमें आलवार भक्तोंमें भक्तिपूर्ण उपासनापद्धति वर्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं जिनमें कमसे-कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नामकी एक महिला भी थी। इनमेंसे अनेक भक्त उन जातियोंमें उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगोंकी परम्परामें सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्रीरामानुजका प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिणमें आजकी भाँति ही जाति-विचार अत्यन्त जटिल अवस्थामें था। फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेनने लिखा है, इस जाति-विचार-शासित दक्षिण देशमें रामानुज-आचार्यने विष्णुकी भक्तिका आश्रय लेकर नीच जातिको ऊँचा किया और देशी भाषामें रचित शठकोपाचार्यके तिरवेल्लुअर प्रभृति भक्तिशास्त्रको वैष्णवोंका वेद कहकर समाहत किया। धर्मकी दृष्टिमें सभी समान हैं लेकिन समाजके व्यवहारमें जातिभेद है, इसीलिए दोनों ओरकी रक्षा करके यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक आदमी अलग-अलग क्षितिमोजन करेगा। क्योंकि जाति-पॉलिटिक्स सवाल तो पंक्ति-

भोजमें ही उठता है। इसीको दक्षिणमें 'तेन कलई' या दक्षिणवाद कहते हैं। इस बातको कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर पन्द्रहवीं शताब्दीमें वेदान्त देशिकने वेदवाद और प्राचीन रीतिको पुनः प्रवर्तित किया। इसीको वह 'वेद कलई' या वेदवाद कहते हैं। 'तेन कलई' वालोंने विवाहमें होम और विधवाका मस्तक-मुण्डन आदि आचार छोड़ दिये थे। किंतु वेदान्त देशिकने पुनर्वार इन आचारोंको जीवित किया। स्पष्ट ही जान पड़ता है कि आलवारोंका भक्तिमतवाद भी जनसाधारणकी चीज़ था जो क्रमशः शास्त्रका सहारा पाकर सारे भारतवर्षमें फैल गया। यह हम ठीक नहीं कह सकते कि पुराने आलवार भक्तोंने इस भक्तिवादको कहाँतक दार्शनिक रूप दिया है। बहुत संभव है जैसा कि प्रायः हुआ करता है, कि अपने आपमें वह उत्तर भारतके सन्तोंकी तरह 'अनमौ सौँचा पंथ,' या अनुभूत सयोंका अस्तन्यस्त रूप रहा हो जिसे बादके शास्त्रज्ञानशाली पण्डितोंने ब्योरेवार सजाया हो और उसे दार्शनिक रूप दिया हो। उत्तर भारतमें इन वैष्णवशास्त्री आचार्योंकी कृपासे उसके दार्शनिक रूपका ही अधिक प्रचार हुआ।

ऊपर दक्षिणके जिस वैष्णव आन्दोलनकी चर्चा की गई है, इसका जरा विस्तृत विवरण यहाँ देना आवश्यक है क्योंकि असलमें दक्षिणका वैष्णव मतवाद ही भक्त आन्दोलनका मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दीके आस पास दक्षिणमें सुप्रसिद्ध शङ्कराचार्यके दार्शनिक मत अद्वैतवादकी प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। अद्वैतवादमें, जिसे बादके विरोधी आचार्योंने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्मकी एकता भक्तिके लिए उपयुक्त न थी क्योंकि भक्तिके लिए दो चीज़ोंकी उपस्थिति आवश्यक है, जीवकी और भगवानकी। प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था। दक्षिणके आलवार भक्त इस बातको मानते थे। इसी लिए बारहवीं शताब्दीमें जब भागवत धर्मने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावादका किया गया। चार प्रबल सम्प्रदाय अद्वैतवादके विरोधमें आविर्भूत हुए जो आगे चलकर सम्पूर्ण भारतीय साधनाके रूपको बदल देनेमें समर्थ हुए। ये चार सम्प्रदाय हैं—रामानुजाचार्यका श्री सम्प्रदाय, मध्वाचार्यका ब्रह्म सम्प्रदाय, विष्णुस्वामीका रुद्र सम्प्रदाय और निम्बार्काचार्य (निम्बादित्य) का सनकादि सम्प्रदाय। इन चारों सम्प्रदायोंके दार्शनिक मतमें भेद है परन्तु एक बातमें वे सब सहमत हैं। वह बात मायावादका लिए है। दूसरी बात जो इन सबमें एक है वह भगवान्का अवतार धारण अलग अलग युगके सबके मतसे

भिन्न भिन्न है। वह अद्वैतवादियोंकी धारणाके अनुसार, भगवान्में लीन कभी नहीं होता। इन सम्प्रदायोंका हिन्दीके भक्ति-कालके साहित्यके साथ सीधा सम्बन्ध है।

१. श्री सम्प्रदायके प्रवर्तक रामानुजाचार्य शेषनागके अवतार समझे जाते हैं। जैसा कि पहले ही बताया गया है, वे आलवार भक्तोंकी शिष्य-परम्परामें पड़ते हैं। इनकी शिक्षा दीक्षा काञ्चीमें हुई थी। लक्ष्मीने इन्हें जिस मतका उपदेश दिया था, उसीके आधारपर इन्होंने अपने सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की थी, इसी लिए इस सम्प्रदायको श्री सम्प्रदाय कहते हैं। रामानुजाचार्य मर्यादाके बड़े पक्षपाती थे इनके सम्प्रदायमें खान-पान, आचार-विचार अदिपर बड़ा जोर दिया जाता है। इन्हींकी चौथी या पाँचवी शिष्य-परम्परामें सुप्रसिद्ध स्वामी रामानंद हुए।

रामानंदके गुरुका नाम राघवानंद था। किसी अनुशासनसंबंधी विषयपर गुरुसे मत-भेद हो जानेके कारण इन्होंने मठ त्याग दिया और उत्तर भारतकी ओर चले आये। मठ मामूली सम्पद्शाली नहीं था। इतनी बड़ी सम्पत्तिको जो सहज ही त्याग सकता था उस आदमीकी स्वतंत्र चिन्ता-शक्तिका अन्दाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। सच पूछा जाय तो मध्ययुगकी समग्र स्वाधीन चिन्ताके गुरु रामानंद ही थे। प्रसिद्ध है कि भक्ति-विविध देशमें उत्पन्न हुई थी। उसे उत्तर भारतमें रामानंद ले आये और कबीरदासने उसे सप्तद्वीप और नवखण्डमें प्रकट कर दिया। सन् १८५७की लिखी हुई रामानुज हरिवरदासकी हरिभक्ति-प्रकाशिका (भक्तमालकी टीका) से जाना जाता है (पृ० ८१, ८२) “रामानंदने देखा कि भगवान्के शरणागत होकर जो भक्तिके पथमें आ गया उसके लिए वर्णाश्रमका बंधन व्यर्थ है, इसी लिए भगवद्भक्तको खान-पानकी शंकामें नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषि-योके नामपर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियोंके भी पूजित परमेश्वरके नामपर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता? इस प्रकार सभी भाई भाई हैं, सभी एक जातिके हैं। श्रेष्ठता भक्तिसे होती है, जन्मसे नहीं।” रामानंद

१. भक्ती द्राविड उपजी, लाये रामानंद।

परगट किया कबीरने, सप्त द्वीप नव खंड।

२. श्री क्षितिमोहन सेन कृत ‘भारतीय मध्ययुगेर साधना’ से उद्धृत।

संस्कृतक पंडित, उच्च ब्राह्मणकुलोत्पन्न और एक प्रभावशाली सम्प्रदायके भावी गुरु थे, पर उन्होंने सबको त्याग दिया—देशभाषामें कविता लिखी, ब्राह्मणसे चाण्डाल तकको राम-नामका उपदेश दिया। उनके हाथसे छूकर लोहा सोना हो गया। रामानंदके बारह प्रधान शिष्य हैं जिनमेंसे कई नीच कहीं जानेवाली जातियोंमें उत्पन्न हुए थे। बारह शिष्य ये हैं—

रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), घन्ना (जाट), सेना (नारी), पीपा (राजपूत) भवानंद, सुखानंद, आशानंद, सुरसुरानंद, परमानंद, महानंद, श्रीआनंद । कहते हैं आनंद नामधारी शिष्य पहले रामानुज सम्प्रदायके थे, बादमें उन्होंने रामानंदका साथ दिया।

रामानंदके इन शिष्योंमेंसे कई प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। इनमें रविदास या रैदास और कबीरदास बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। कई भक्तोंके भक्तोंने इनके नामपर अलग-अलग सम्प्रदायोंका प्रवर्तन किया जिनमें कबीरपंथी, खाकी, मल्लदासी, रैदासी, और सेना-पंथी बहुत प्रसिद्ध हैं। रामानंद स्वयं खान-पानके प्रश्नपर ही अपने मूल सम्प्रदायसे विच्युत हुए थे अतएव वे अपने शिष्योंके उस प्रकारके आचार विचारपर जोर नहीं दिलवाते थे। इसी लिए बादके भक्तोंमें जाति-पाँतिका प्रश्न ही जाता रहा। रामानंदने स्वयं रामचंद्रके अवतार और चरित्रको ही लोक और कालके उपयोगी बताया था। उपासनाके क्षेत्रमें ही वे जाति-पाँतके बंधन-को अस्वीकार करते थे पर अपने किसी भी न्यक्तिगत मतको उन्होंने शिष्योंपर लाद नहीं दिया। उनके मतसे गुरुको आकाशधर्मा होना चाहिए जो पौधेको बढ़नेके लिये उन्मुक्तता दे, न कि शिलाधर्मी जो कि पौधेको अपने गुरुत्वसे दबाकर उसका विकास ही रोक दे। जो विद्वान् रामानंद-दिग्विजय आदि बादके बने ग्रंथोंके आधारपर रामानंदकी इस महिमाको अस्वीकार करते हैं वे भूल जाते हैं कि सम्प्रदाय प्रतिष्ठा करनेवाले शिष्य सदा लोकके साथ समझौता करके अपने गुरुके महत्त्वको कम किया करते हैं।

कबीरदासमें रामानंदके मंत्र-बीजने सबसे अधिक प्रसार पाया। कबीर एक ही साथ तीन बड़ी बड़ी धाराओंको आत्मसात् कर सके थे लेकिन इससे उनके रामानंदके शिष्य होनेमें कोई बाधा नहीं पड़ी। ये तीन धारायें इस प्रकार हैं—
(१) उत्तर-पूर्वके नाथ-पंथ और सहजयानका मिश्रित रूप, (२) पश्चिमका सूफी

मतवाद और (३) दक्षिणका वेदान्त-भावित वैष्णव धर्म। कबीरके दोहे, पद, यहाँ तक कि उलटबौलियाँ भी, नाथ-पंथ और सहज-यानके साधकोंके हंगपर हैं। कहीं कहीं तो दू-ब-दू वही बात रख दी गई है। दूसरी धाराका क्षीण प्रभाव उनकी प्रेम-मूलक रूपक-रचनाओंपर है पर अन्तिम धारा ही वास्तवमें कबीरको सदा परिचालित करती रही। साम्प्रदायिक शास्त्र-ज्ञानको अधिक महत्त्व देनेवाले पण्डितोंको कभी कभी कबीरकी उक्तियोंमें उलझपन और ऊटपटाँग बातोंका आभास मिल जाना असंभव नहीं है पर अगर वे भीर भावसे विचार करते तो उन्हें मालूम होता कि उस युगके अर्थ-हीन जात-पाँतके ढकोसलोंपर कड़ासे कड़ा आघात करना लोक-पक्षका अमंगल नहीं था। आज भी वह अर्थहीन जंजाल वर्तमान है और आजका महापुरुष भी,—चाहे वह कोई हो,—इसपर आघात करनेको बाध्य है। लोक-पक्ष, उपासना-पक्ष और शास्त्र-पक्षकी कल्पनासे हम ग्रंथगत मतोंका विचार कर सकते हैं, पर वास्तविक समस्याका समाधान उससे नहीं हो सकता।

रैदास कबीरसे अवस्थामें बड़े थे और बहुत निरीह भक्त थे। जीवनकी बहुविध कठिनाइयोंको झेल चुके थे। एक बार ग्रह-ज्ञानके विषयमें कबीरसे जब पूछा गया तो, कहते हैं, उन्होंने बताया कि 'मैं बच्चा था, माँकी गोदीमें चढ़ कर रास्ता पार कर आया हूँ, रैदाससे पूछो, वे बड़े थे और मॉने उनके सिरपर कुछ गड्ढर भी रख दिया था। वे ही रास्तेका मर्म बता सकते हैं।' प्रसिद्ध है कि अन्तमें मीराबाईने रैदाससे दीक्षा ग्रहण की थी।

कबीरके पुत्रका नाम कमाल था। कबीरकी मृत्युके बाद इनसे सम्प्रदाय स्थापित करनेको कहा गया पर ये राजी न हुए। कहते हैं; इसीलिए शिष्योंने चिढ़कर इन्हें 'कबीरका वंश डुबा देनेवाला' कहा। लेकिन कमाल अपने मतपर दृढ़ रहे और अन्त तक कहते रहे कि जिसने अपनी सारी जिन्दगी सम्प्रदाय-स्थापनाके विरुद्ध युद्ध करनेमें लगाई, मैं उसीके नामपर सम्प्रदाय-स्थापनाका समर्थन नहीं कर सकता। पर अन्तमें, सम्प्रदायकी स्थापना होकर ही रही। सुरतगोपालने काशीमें और धरमदासने मध्यप्रान्तमें कबीरका सम्प्रदाय स्थापित किया।

कमालके शिष्य दादू थे। दादूको कुछ लोग मोची, कुछ लोग धुनिया और कुछ लोग सारस्वत ब्राह्मण बताते हैं। पं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी और प्रो०

क्षितिमोहन सेनकी आधुनिक खोजोंसे जाना गया है कि ये जन्मसे मुसलमान थे। प्रो० सेनको बङ्गालके बाउलोंमें दादूका उल्लेख मिला है। उसमें स्पष्ट बताया गया है कि गुरु दादूका नाम दाऊद था। जो कुछ भी हो, दादूकी कवित्व-शक्ति और अनुभव आश्चर्यजनक थे। इस सम्प्रदायके अन्यान्य भक्तोंकी भाँति ये भी सम्प्रदाय-गत शास्त्रीय-संस्कारोंसे मुक्त थे इसीलिए सब जगहसे अकातर भावसे सत्य ग्रहण कर सकते थे। इनके ग्रंथोंकी भाषा राजस्थानी-मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। दादूके अनेक शिष्य हो गये हैं जिनमें कई अच्छे कवि हो गये हैं। सुन्दरदास, रज्जब, जनगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदिने कविता लिखी है। इनमें साहित्यिक उल्लेखके योग्य दो हैं—सुन्दरदास और रज्जब। सुन्दरदास बहुत छोटी उमरमें दादूके शिष्य हो गये थे और उन्होंने वर्षोंतक काशीमें रहकर शास्त्राभ्यास किया था। इसका फल यह हुआ कि इनकी कवितामें पाण्डित्यकी मात्रा अधिक है। सन्तोंमें अगर किसीने छत्रबन्ध, मुरजबन्ध आदि बाह्य आलंकारिताको आश्रय दिया तो वे यही हैं। लेकिन रज्जब बहुत पदे-लिखे आदमी नहीं थे। वे बड़े सरस ढङ्गसे तत्त्वकी बात कहा करते थे। दादूके शिष्योंमें रज्जब शायद सबसे अधिक चिन्ताशील और भावुक थे। दादूकी शिष्य-परम्परामें जगजीवनदास हुए जिन्होंने सतनामी सम्प्रदाय चलाया। निर्गुण भक्तोंकी परम्परामें मल्लदासका नाम है। कहते हैं इनकी कविताकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक सुन्यवस्थित है। और भी कई प्रसिद्ध सन्त हो गये हैं, जिन्होंने हिन्दीमें अपनी अमर वाणियाँ लिखी हैं। इनमें तुलसी साहब, गोविन्द साहब, भीखा साहब, परदू साहब आदि मुख्य हैं।

रामानन्दी भक्तोंकी एक दूसरी श्रेणीमें महाकवि गोसाईं तुलसीदासजी हुए। इन्होंने रामको अवतार रूपमें ग्रहण किया। इन्होंने अपने सभी ग्रन्थोंमें रामकी सर्गुण उपासनापर जोर दिया और बहुत दिनोंके लिए सारे भारतवर्षको राम-भक्तिकी पवित्र धारामें स्नान करा दिया। बुद्धदेवके बाद उत्तर भारतके धार्मिक राज्यपर इस प्रकार एकच्छत्र अधिकार किसीका न हुआ। उन दिनों हिन्दीमें साहित्य या लोक-गीतके जितने रूप प्रचलित थे तुलसीदासने सबको अपनी आश्चर्यजनक प्रतिभाके बलपर अपना लिया। दोहे, सवैया, कवित्त, पद, सोहर, भजन आदि कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं था जिसमें उन्होंने अपनी प्रतिभाका चमत्कार न दिखाया हो उनकी रामायण उत्तर भारतकी बाइबिल कही जाती है।

हमें ठीक नहीं मालूम कि ऐसा कहनेसे 'रामचरित-मानस' का वास्तविक महत्त्व समझा जा सकता है या नहीं, लेकिन इस बातके कहनेमें किसीको संकोच नहीं होगा कि उत्तर भारतमें दूसरी पुस्तक इतनी लोकप्रिय नहीं है। कविके रूपमें तुलसीदास हिन्दी साहित्यमें अद्वितीय हैं। आज साहित्यमें मनोविज्ञानका युग चल रहा है पर आज भी तुलसीदासके समान मनोविकारोंका चित्रण करनेवाला कवि हिन्दीमें नहीं है। प्रबंध-काव्यमें तुलसीदास उस स्थानपर पहुँच चुके थे जहाँसे आगे जाना संभव नहीं। लोक-चित्तका इतना विस्तृत और यथार्थ ज्ञान रखनेवाला कवि अगर लोकमतपर शासन न करता तो आश्चर्यकी बात थी, शासन करना स्वाभाविक है।

तुलसीदास राम-भक्तिके उपासक थे। लोकमें वर्णाश्रम व्यवस्थाके वे पक्के समर्थक थे पर उपासनाके क्षेत्रमें जात-पाँतकी भर्थादाको व्यर्थ समझते थे। दार्शनिक मत उनका शंकराचार्यसे मिलता जुलता था, यद्यपि मोक्षकी अपेक्षा वे भक्तिको ही अधिक काम्य समझते थे। मरनेके बाद मोक्ष मिलनेसे युगयुगान्तर तक भक्ति पाना उनकी दृष्टिमें ज्यादा अच्छा था। तुलसीदासमें अपनेको पतित समझ कर भगवान्‌को सर्वोत्तमा समर्पण कर देनेकी भावना मध्ययुगके तमाम भक्तोंकी अपेक्षा अधिक है। यूरोपियन पंडितोंका अनुमान है कि यह बात ईसाई धर्मका अप्रत्यक्ष प्रभाव है। लेकिन हम अन्यत्र दिखा चुके हैं कि यह अनुमान भलत है। भागवत धर्ममें ही यह भाव मूल रूपसे वर्तमान था।

वल्लभाचार्यकी शिष्य-परंपरामें एक और उल्लेखयोग्य भक्त हो गये हैं। वे हैं अग्रदासजीके शिष्य नाभादासजी। कुछ लोगोंके मतसे वे भी नीच समझी जानेवाली जातियोंसे आये थे। इनका 'भक्तमाल' और इसपर इनके शिष्य प्रियादासजीकी टीका भक्तोंका हिय-हार रही है। तुलसीदासजीकी रामायणके बाद भक्तमाल ही मध्ययुगकी सर्वाधिक लोकप्रिय भक्ति-पुस्तक थी। इसका अनुवाद बंगला और मराठीमें भी हुआ। बंगला अनुवादके लेखक श्री लाल-दासने (किसी किसीके मतसे इनका नाम कृष्णदास था) नाभादासके लगभग सवा सौ वर्ष बाद इस सटीक ग्रंथके अनुवादको लिखा परन्तु चैतन्यदेवके मतानुयायी होनेके कारण अपने सिद्धान्तोंके समर्थनके लिए उन्होंने एक नया विभाग और जोड़ा। नाभादासजीके भक्तमालमें बहुत-से भक्तोंके जीवनवृत्त संकलित हुए हैं। इसमें नानक, दादू आदि भक्तोंका नाम नहीं आया है। बादमें इस ग्रंथके

अनुकरणपर और भी बहुतसे भक्तमाल लिखे गये।

२ **ब्राह्म सम्प्रदाय**—ब्राह्म सम्प्रदायके प्रवर्तक मध्वाचार्य पहले शैव थे, बादमें वैष्णव हो गये। इस सम्प्रदायसे हिन्दी साहित्यका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। चैतन्यदेव इसी सम्प्रदायमें पहले दीक्षित हुए थे यद्यपि बादमें प्रवर्तित उनका गौडीय वैष्णवमतवाद रुद्रसम्प्रदायान्तर्गत वल्लभाचार्यके मतसे अधिक साम्य रखता है। चैतन्यदेवकी शिष्य-परम्परामें अनेक वैष्णव कवि बंगला और हिन्दीमें मधुर पदावलीकी रचना कर गये हैं। अभी तक इस दिशामें हिन्दीमें विशेष कार्य नहीं हुआ है। हिन्दी साहित्यमें चैतन्य देवके एकमात्र दीक्षा-प्राप्त शिष्य गोपाल भट्टका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ हिन्दी साहित्यके इतिहास-लेखकोंने गोपाल भट्टको चैतन्यदेवका गुरु लिखा है। चैतन्य-चरितामृत आदि ग्रंथोंसे स्पष्ट है कि श्री गोपाल भट्ट एकमात्र ऐसे महात्मा थे जिन्हें चैतन्यदेवने दीक्षा दी थी। चैतन्य सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध भक्त जीवगोस्वामीके साथ हिन्दीकी अपर भक्त-कवि मीराबाईका सम्बन्ध है। मीराबाईने पहले जीवगोस्वामीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। बादमें मीराबाईने, कहते हैं, रैदाससे भी दीक्षा ग्रहण की थी।

३ **रुद्र सम्प्रदाय**—विष्णुस्वामीप्रवर्तित रुद्र-सम्प्रदाय असलमें वल्लभाचार्यके प्रवर्तित सम्प्रदायके रूपमें ही जीवित है। दो-एक अन्य शाखायें भी इसकी बताई जाती हैं पर वास्तवमें उनका कोई महत्त्व नहीं है। वल्लभाचार्यके पुत्र गोसाईं विठ्ठलनाथ बादमें आचार्य पदके अधिकारी हुए थे। इन दोनों पिता-पुत्रके चार चार शिष्य हिन्दी साहित्यके आदि युगके उन्नायक हैं। गोसाईं विठ्ठलनाथने इन आठको लेकर अष्ट-छापकी प्रतिष्ठा की थी। इन आठ शिष्योंके नाम इस प्रकार हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कुष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमें सूरदास और नन्ददास बहुत अच्छे कवि हो गये हैं।

सूरदासका हिन्दीमें बहुत ऊँचा स्थान है। उनका सूरसागर प्रेमका अद्वितीय काव्य है। इस बातको स्वीकार करनेमें कबसे कबे समालोचकों भी कोई संकोच नहीं होगा कि इस ग्रंथमें हिन्दी, प्राकृत और संस्कृतके उद्भटकाव्यका कोई भी उक्ति-चमत्कार, अलंकारच्छटा और काव्य-सौन्दर्य आनेसे नहीं रहा। भाषा ऐसी सरस और मार्जित है कि सहसा यह विद्वान् नहीं होता कि मूलभाषाका वह पहला ग्रंथ है। पं० रामचंद्र शुक्लको 'सूरसागर किसी चली आती

हुई गीत काव्य-परंपराका,—भले ही वह मौखिक हो,—विकास' प्रतीत होता है। कहते हैं सूरदास उद्धवके अवतार थे और सख्य भावसे भगवान्‌का भजन करते थे। सूरदासके समीक्षकोंका दावा है कि संसारका कोई दूसरा कवि बाल्य-स्वभावका इतना सुन्दर चित्रण नहीं कर सका जितना सुन्दर सूरदासके हाथों हुआ है। और इस विषयमें दो मत नहीं हो सकते कि बाल-स्वभाव, मातृ-प्रेम तथा संयोग और विप्रलम्भ शृंगारमें सूरदास अनुलनीय हैं। मनोविकारोंका ऐसा सरस चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। उनका भ्रमर-गीत विरहका उमङ्गता हुआ महासमुद्र है। इसमें बड़ी सरसता और मार्मिकताके साथ कविने वैराग्य-वाद, ज्ञान-गरिमा और योग तथा निर्गुणवादका प्रत्याख्यान कराया है।

अष्ट-छात्रके अन्य कवियोंमें सूरके बाद नंददास ही अधिक प्रतिष्ठ हैं। इनके ग्रंथोंमें बल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंका शास्त्रीय ढंगसे प्रतिपादन किया गया है। अन्य अष्ट-छापियोंमें कवित्वकी अपेक्षा महात्मापन अधिक है। सब लीला-मानको प्रधानता देते हैं। और जैसा कि बल्लभाचार्यने बताया है कि 'लीलाका कोई और प्रयोजन नहीं है, स्वयं लीला ही प्रयोजन है*,' इन भक्त कवियोंके लीला-गानका भी कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, स्वयं लीला-गान ही प्रयोजन है।

गोसाईं विठ्ठलनाथके सुपुत्र गोसाईं गोकुलनाथजीने 'दोसौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता' और 'चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' नामक गद्य-ग्रंथ लिखे। गोरख-नाथजीके दोसौ वर्ष बाद यही गद्य-ग्रंथ उपलब्ध होता है। इन दोनों ग्रंथोंमें मध्ययुगके अनेक वैष्णव भक्तोंकी कहानी लुप्त होनेसे बच गई है। इस शृंखलामें कुछ दूर जाकर पीयूषवर्षी कवि रसखान हुए जो अपनी सरस रचनाके कारण साहित्यमें और तन्मय उपासनाके कारण भक्तोंकी दुनियामें अमर हो गये हैं। रसखानकी कहानीमें बताया है कि वे पहले अनुचित प्रेमके शिकार थे, बादमें किसी भक्तने उन्हें भगवत्-प्रेमका रसिक बना दिया। ऐसी कहानी, किसी न किसी रूपमें मध्ययुगके अनेक भक्तोंके बारेमें कही जाती है। इस प्रकारकी कहानियाँ शायद उस युगमें भक्तोंकी प्रेम-मूलक साधनाकी ठीक ठीक व्याख्या हैं। किस प्रकार एक ही मनोविकार लोकमें एक रूप धारण करता है और भगवद्विषयक होकर एकदम विपरीत दूसरा रूप धारण करता है, यह बात मध्ययुगके भक्तोंमें बहुत स्पष्ट दृष्ट होती है।

* नहि लीलाया: किंचित् प्रयोजनमस्ति लीलाया एव प्रयोजनत्वात् ।

४ **सनकादि सम्प्रदाय**—निम्बार्काचार्यका यह सम्प्रदाय अब उतना अधिक प्रचलित नहीं है। उत्तर भारतमें अब भी यत्र तत्र इस सम्प्रदायके भक्त पाये जाते हैं। इस सम्प्रदायका एक नाम मात्रका शाखा-सम्प्रदाय राधा-वल्लभ है जिसे हिन्दीके प्रसिद्ध कवि गोस्वामी हितहरिवंशने प्रवर्तित किया था। इस सम्प्रदायमें राधिकाके मार्फत ही भक्त अपनेको भगवान्के पास निवेदित करता है। एक उपसम्प्रदाय सखी-भाववालोंका है जो इसी सम्प्रदायका अंग समझा जाता है। राधावल्लभी सम्प्रदायके प्रवर्तक हितजी ऊँचे दर्जेके कवि और महात्मा थे। ये संस्कृतके भी उत्तम कवि थे। 'राधा-सुधानिधि' नामका संस्कृत काव्य-ग्रंथ इन्हींका लिखा बताया जाता है। चैतन्य-सम्प्रदायवालोंका दावा है कि उक्त ग्रंथ किसी गौड़ीय गोस्वामीका लिखा हुआ है। उक्त ग्रंथके दोनों दावेदार पक्षोंमें इस बातके लिए काफी चर्चा-चख हो चुकी है। जो हो, इस विषयमें सन्देह नहीं कि गोस्वामी हितहरिवंश हिन्दी और संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे और शास्त्रज्ञानमें दक्ष थे।

५ **गुरु नानक और भक्तगण**—दक्षिणके चार वैष्णव सम्प्रदाय किसी न किसी रूपमें समग्र भक्ति आन्दोलनके साथ जिस प्रकार जड़ित हैं, उसकी चर्चा की गई। गुरु नानकके प्रवर्तित सिख सम्प्रदायका, इन वैष्णव सम्प्रदायोंसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। कुछ विद्वानोंकी रायमें गुरु नानकने कबीर साहबसे ज्ञान और भक्तिकी उत्तेजना पाई थी। परन्तु ऐसे भी लोग हैं जो इस बातको स्वीकार करनेमें आपत्ति करते हैं। असलमें नानक और कबीरमें साधना-गत साम्य था, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। गुरु रामानन्दके पद भी उक्त ग्रन्थमें संगृहीत हैं। इससे गुरु नानकका रामानन्दी निर्गुण धाराके साथ योग होना असम्भव नहीं है। नानक देवने जो कुछ कहा है वह उसी जातिकी चीज है जो कबीर दादू आदि निर्गुणोपासक भक्तोंने कही है। लेकिन फिर भी दीक्षा-गत संबंध न होनेके कारण उसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं कह सकते। गुरु-ग्रंथ-साहबमें 'नानक' के नामसे बहुतसे पद हैं, पर, विद्वानोंकी राय है कि वे सभी गुरु नानकके लिखे नहीं हैं। बादके गुरुओंने भी 'नानक' नाम देकर ही पद लिखे हैं। नानकने, कहते हैं कि, हिन्दीमें बहुत कम पद लिखे थे, जो कुछ हैं भी, उनमें पंजाबीका मिश्रण बहुत है। कहते हैं, नानकने सेवद हुसेन नामक किसी सुसलमान साधकसे भी दीक्षा ग्रहण की थी लेकिन इस बातका अभी तक कोई पक्का

सबूत नहीं मिला है। बगदादके नानक स्थानमें कहा जाता है कि, उनकी अरबीमें रचित वाणियोंका एक संग्रह है। नानकके बादमें नौ उत्तरोत्तर शिष्य हुए जिनमें अनेक कवि थे। अन्तिम गुरु गोविन्दसिंहकी कवितामें वीर-भावकी प्रधानता है।

गुरु नानकने अपने ग्रंथमें नामदेवजीकी भी वाणी संग्रह की है। नामदेवजीका जन्म (१३६३ ई०) महाराष्ट्रके दरजी-वंशमें हुआ था। रामानंदकी तरह भक्तिको ये भी दक्षिणसे उत्तर भारतमें ले आये थे। कुछ लोगोंकी धारणा है कि रुद्र सम्प्रदायके प्रवर्तक विष्णुस्वामी नामदेवके शिष्य थे। कहते हैं विष्णुस्वामी, बोहरदास, जल्लो, लड्डा प्रभृति शिष्योंने उनका समाधि-मंदिर तैयार कराया था। पर इस बातका कोई पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिल सका है कि रुद्रसम्प्रदायवाले विष्णुस्वामी और ये विष्णुस्वामी एक ही थे।

६ सूफी साधनाका आविर्भाव—मुसलमानी सत्ताके साथ ही साथ इस देशमें सूफी साधकोंका आगमन भी होने लगा था। मुसलमानी धर्मकी विशेषता उसका एकेश्वरवाद है। यह समझना गलत है कि एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद एक ही चीज़ है। एकेश्वरवादमें अनेक देवताओंके स्थानपर एक बड़े देवताकी सत्ता स्वीकार की जाती है। असलमें हिन्दुओंके बहुदेव-वादके मूलमें एक अखण्ड व्यापक भगवान्की सत्ता ही है। ब्रह्मा विष्णु शिव आदि देवता उसी भगवान्के गुणावतार हैं, यह बात हम आगे चल कर देखेंगे। जो कुछ भी हो, जहाँ तक हिन्दू जनताका संबंध था वहाँ तक यह एकेश्वर-वाद उनके लिए एक अपरिचित-सी वस्तु थी। फिर भी मुसलमानोंका एक गिरोह इस मतसे सन्तुष्ट नहीं था। सूफी यही लोग थे। वे भगवान्को एकेश्वर रूपमें नहीं बल्कि विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियोंकी तरह मानते थे। यह बात मुसलमानी शास्त्रके अनुकूल नहीं थी। ऐसा विश्वास भी किया जाता है कि सूफियोंके मतवादमें वेदान्तका प्रत्यक्ष प्रभाव था। जो हो, मुसलमानोंमें जो लोग अत्यधिक शास्त्राचारपरायण थे वे इन्हें 'बे-शरा' या शास्त्रबहिर्भूत मानते थे। इतिहासमें इनके ऊपर किये गये तरह तरहके अत्याचारोंकी कहानियाँ भी मिलती हैं। सूफियोंमें एक दल ऐसा भी था जो शास्त्रके साथ समंजस रखकर उपासना करता था। इन लोगोंको 'बा-शरा' या शास्त्र-सम्मत कहा गया है। (श्री क्षिति-मोहनसेनकी 'मध्ययुगेर साधना देखिए।')

शुरू शुरूमें ये साधक पंजाब और सिन्धमें आकर बस गये और धीरे धीरे इनकी परम्परा सारे भारतवर्षमें फैल गई। उन दिनों भारतीय चिन्ताकी

परिणति भक्ति-आन्दोलनके रूपमें हो चुकी थी। समूचा देश इस सिरेसे उस सिरेतक भक्तिकी रस-माधुरीमें सुस्नात हो रहा था। सूफियोंकी साधना अनेकांशमें इन सन्तोंके अनुकूल थी। ये साधक अन्यान्य मुसलमानोंके समान कट्टर और विरोधी नहीं थे, इसीलिए भारतीय जनताने विश्वासपूर्वक इनकी साधनाके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। मुईन उद्दीन (११४२ ई०), कतुबुद्दीन काकी, फरीद शकरगंज (१२०० ई०), शेख चिश्ती (१२९१ ई०), निजामुद्दीन औलिया (१२३५ ई०), सलीम चिश्ती (१५१२), मुबारक नागोरी (१५०१ ई०) आदि सूफी साधकोंने समान भावसे हिन्दू और मुसलमान दोनोंका आदर और विश्वास प्राप्त किया था। बहुतोंकी समाधिपर आज भी हजारोंकी संख्यामें श्रद्धालु हिन्दू और मुसलमान जनता अपनी भक्ति निवेदन करने प्रतिवर्ष जाती है। यह बात कुछ विरोधाभास-सी लगती है कि उन दिनों जब कि हिन्दुओं और मुसलमानोंकी लड़ाईयाँ आम बात थी, किस प्रकार ऐसा मिलन सम्भव हो सका? मध्ययुग बहुत कुछ करामातोंका युग था। उस युगके प्रत्येक साधु-सन्तके नामपर दो-चार करामाती किस्से मिल ही जाते हैं। इन करामातों और उनकी ख्यातिसे लोग परस्पर एक दूसरेकी ओर आकृष्ट होते थे। दोनों ज्यों ज्यों निकट आते गये त्यों त्यों अधिकाधिक अनुभव करते गये कि दोनोंमें तात्त्विक मत-भेद बहुत कम है। कबीर आदि सन्तोंने इस बातपर बहुत जोर दिया। इन्होंने हिंदुत्व और मुसलमानत्वके बाह्य उपकरणको हटाकर उनका असली रहस्य पहचाननेकी चेष्टा की। मुसलमानोंकी ओरसे यह काम प्रेम-कहानियाँ लिखकर सूफी सन्तोंने किया। पं० रामचन्द्र शुक्लने कबीर आदि ब्राह्मण-फटकारके द्वारा 'चिदानेवाले' सिद्ध हुए सन्तोंके साथ उनकी तुलना करते हुए कहा है कि कबीर आदिका प्रयत्न 'हृदय स्पर्श करनेवाला' नहीं हुआ। "मनुष्य-मनुष्यके बीच जो रागात्मक संबंध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्यके जीवनमें जिस हृदय-साम्यका अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेमकहानीके कवियोंने प्रेमका शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओंको सामने रखा जिनका मनुष्यमात्रके हृदयपर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू और मुसलमान-हृदयको आमने-सामने करके अचनवीपन मिटानेवालोंमें इन्हींका नाम लेना पड़ेगा।" इन साधकोंने हिन्दीमें एक विशेष प्रकारके साहित्यको उत्पन्न होनेसे बचा लिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुओंके भीतर इस युगमें जो विराट् जन-आन्दोलन भक्तिवादके रूपमें ब्रह्ममूल हो चला था वह प्राचीन धर्मका आश्रय लेकर ही चला था। परन्तु शास्त्रगत सूक्ष्म विचारों और पाण्डित्य-प्रवण चिन्ताओंका प्रभाव उसपर बहुत कम था। इस युगके साहित्यने ऐसी बहुत-सी बातोंको त्याग दिया था जिनके अभावमें दोनोंके भीतर एक बड़ा भारी व्यवधान दिखाई देता है। इस व्यवधानके कारण दो थे। प्रथम तो यह जनआन्दोलनकी अभिव्यक्तिका साहित्य है, इसलिए इसमें उन रूढ़ियों और परम्पराओंकी चर्चा नहीं मिलती जो शास्त्रीयतासे पुष्ट साहित्यमें साधारणतः मिल जाया करती है। दूसरे जिस प्राचीन साहित्यके साथ इसकी तुलना की जाती है उसके बननेसे लेकर इस साहित्यके बननेके कालके बीच जो प्रायः आधी सहस्राब्दीका व्यवधान पड़ता है, उस व्यवधान-युगके विचारोंके विकासके अध्ययनकी चेष्टा नहीं की जाती। यदि इस व्यवधानकालिक साहित्यके उस अंशको देखें जिसका सम्बन्ध पण्डित जनोंसे नहीं बल्कि जन-साधारणसे था तो कोई सन्देह नहीं रह जायगा कि यह साहित्य इस व्यवधान कालिक जनसाहित्यका ही क्रमविकास है। कबीर दासके निर्गुण भजन, सूरदासके लीला-गान और तुलसीदासका रामचरितमानस अपनी अन्तर्निहित शक्तिके कारण अत्यधिक प्रचलित हो गये और हिन्दू जनताका संपूर्ण ध्यान अपनी ओर खींचनेमें समर्थ हुए। परन्तु जन-साधारणका एक और विभाग, जिसमें धर्मका स्थान नहीं था, जो अपभ्रंश साहित्यके पश्चिमी आकारसे सीधे चला आ रहा था, जो गाँवोंकी बैठकोंमें कथानक रूपसे और गान रूपसे चल रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी साधकोंने पौराणिक आख्यानको बदले इन लोकप्रचलित कथानकोंका आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।

इन कहानियोंकी परम्परा कुतुबन शेखसे आरम्भ होती है जो सोलहवीं शताब्दीके आरम्भमें उत्पन्न हुए थे। इन्होंने मृगावती नामक काव्य दोहों और चौपाइयोंमें लिखा। फिर मलिक मुहम्मद जायसी हुए जिन्होंने अपना प्रख्यात काव्य पद्मावत लिखा। फिर उसमानने चित्रावली (१६१३ ई०), शेर नबीने ज्ञानप्रदीप (१६२० ई०), कासिमशाहने हंस-जवाहर (१७३१ ई०), नूर मोहम्मदने इन्द्रावती (१६४४) और फाजिलशाहने प्रेम-रतन (१६४८) नामक काव्य लिखा। सूफी कवियोंकी लिखी हुई इन प्रेम-कहानियोंमें बहुत कुछ

साम्य है। ये सभी बा-बारा या शास्त्र-सम्मत श्रेणीके थे। सबमें ईश्वर-वन्दना, मुहम्मद साहबकी स्तुति आदि बातें समान रूपसे पाई जाती हैं। सबकी भाषा अवधी है, सबमें फारसी प्रेम-गाथाओंकी भौति पुरुषकी आसक्ति पहिले दिखाई जाती है और सबसे बड़ी बात यह कि सबमें प्रस्तुत कथाके साथ ही साथ प्रस्तुत परोक्ष सत्ताकी ओर इशारा किया गया है। लेकिन इससे कथाकी रोचकतामें कहीं कमी नहीं आई है।

निर्गुण भावके शास्त्र-निरपेक्ष साधकोंकी भौति इन कवियोंमें भी अधिकतर शास्त्र-ज्ञान-विरहित थे पर निस्सन्देह पहुँचे हुए प्रेमी थे। इन्होंने प्रेमके जिस ऐकान्तिक रूपका चित्रण किया है वह भारतीय साहित्यमें नई चीज है। प्रेमकी इस पीरके सामने ये लोकाचारकी कुछ परवा नहीं करते। भारतीय काव्य-साधनामें प्रेमकी ऐसी उत्कट तन्मयता दुर्लभ थी। विरहका वर्णन करनेमें ये कवि कमाल करते हैं। ये कथा कथाके लिए नहीं कहते, इनका लक्ष्य सदा भगवत्प्राप्ति रहती है। इसी लिए, भगवान्‌के विरहमें जीवात्माकी तड़पनका ये बड़ी सजीवताके साथ वर्णन करते हैं। इन कवियोंमें सर्वश्रेष्ठ पद्मावतकार मलिक मुहम्मद जायसी हैं जिनके काव्य-सौन्दर्यको चमत्कारिक रूपसे उद्घाटन करनेका श्रेय हिन्दीके प्रसिद्ध अलोचक पं० रामचन्द्र शुक्लको है। पद्मावतकी प्रस्तावनामें आपने जैसी काव्य-मर्मज्ञता दिखाई है वैसी हिन्दी तो क्या अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओंमें भी कम ही मिलेगी। यह प्रस्तावना अपने आपमें एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति है।

कुछ लोगोंको भ्रम है कि पद्मावत आदिमें दोहे और चौपाइयोंमें प्रबंध-काव्य लिखनेकी जो प्रथा है वह सूफी कवियोंका अपना आविष्कार है। यह बात नितान्त भ्रमजन्य है। सहजयानके सिद्धोंमेंसे सरहपाद और कृष्णाचार्यके ग्रंथमें दो दो चार

१ सरहपादकी रचनामेंसे चौपाई और दोहोंका एक उदाहरण नीचे दिया गया—

अइसे बिसम सन्नि को पइसइ । जो जइ अति खूठ जाव न दीसइ ॥

परिडअ सअल सअथ बख्सागइ । देहहि बुद्ध वसंत रा जागइ ॥

अमखामगइ रा तेन बिस्तरिडअ । तो बि गिलजइ भगइ हठ परिडअ ॥

जीवंतह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ ।

गुरु उवपसे बिमल मह, सो पर धरणा कोइ ॥

चार चौपाइयों (अर्घालियों) के बाद दोहा लिखनेकी प्रथा पाई जाती है अपभ्रंश कव्योंमें दस दस बारह चौपाइयों अर्घालियोंके बाद घत्ता, उल्लाह आदि लिखकर प्रबंध लिखनेका नियम बहुत पुराना है। अपभ्रंश कव्योंमें ठीक उन्हें चौपाई नहीं कहते थे परन्तु हैं वे वही चीज़ जिसे तुलसीदासजीने और जायसी आदिने चौपाई कहा है। ये दो श्रेणियोंके पाये जाते हैं, पञ्चाटिका और अलिख्छह। इनमें अलिख्छह तो चौपाई ही है, अन्तर इतना ही है कि चौपाईके अन्तमें दो गुरु हो सकते हैं पर इसके अन्तमें लघु होने चाहिए। यह अन्तर भी व्यवहारमें शिथिल हो जाता है। दस-बारह पञ्चाटिका या अलिख्छह, जिसके बाद घत्ता या कव्व या उल्लाहा होते हैं। इन छेदात्मक छन्दों अर्थात् घत्ता, उल्लाहा आदिके बीचकी अलिख्छह आदि चौपाई जातीय छन्दोंकी पंक्तियोंको अपभ्रंश साहित्यमें कडवक कहते हैं। इस प्रकार यह पद्धति अर्थात् कडवकके बाद छेदात्मक उल्लाहा या कव्व छंद देकर धारावाहिक रूपसे प्रबन्ध काव्य लिखना सूफी कवियोंकी ईजाद नहीं है।

१ 'भविसयत्त कहा' नामक अपभ्रंश काव्यसे एक उल्लाहा-छेदक कडवक उद्धृत किया गया। यह एकदम परवर्ती कथानकोंके दोहा-छेदक चौपाइयोंके समान ही है—

तासु पुराइउ कम्मु अण्डिहु । जाइवि धणवइहियइ पइहु ॥
सा कमलसिरि तं जि अवलोयणु । चरियइ तं जि ताइ एवजोव्वणु ॥
तं जि ताहि चारितु सुणिम्मलु । तं बच्छल्लु वयणु पिय कोमलु ॥
शवर पुव्वकम्महो परिणामि । कमलविणु सुहाइ तहो णामि ॥
जो चरु पिय पेसलइ चवंतउ । मुँह मुहेण तंबोलु खिवंतउ ॥
अणुदिण पिय वावार पसंसउ । तहु वटुणि आलावणि संसउ ॥
जो परिहासइ केलि करंतउ । पणयसमिद्ध माणु सिहरंतउ ॥
सो वट्टइ परचित्त सणोहउ । ता किं होइ ण होइ व जेहउ ॥
घत्ता—तं पिक्खवि मित्ताय मंदरसु, चलिउ पिम्मु परियत्तगुणि ॥
रणरणउ बहंति महच्छिमइ, बहु वियप्प चितवइ मणि ॥

योगमार्ग और सन्तमत

भारतीय साहित्यमें परमपद प्राप्त करनेके तीन मार्ग अत्यन्त प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं। ये तीन मार्ग हैं—योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। हमारे आलोच्य साहित्यमें ये तीनों मार्ग अपने स्वाभाविक ढंगपर विशेष रूपसे विकसित हुए थे। इस जगह हम योग और ज्ञानमार्गके उस रूपकी थोड़ी चर्चा कर लें, जो उक्त साहित्यका प्रधान उपजीव्य है तो अच्छा हो। भक्तिमार्गको हम फिलहाल आगेके लिए छोड़ दे सकते हैं। पहले योगमार्गको ही लिया जाय। प्राचीन साहित्यमें 'योग' शब्द नाना अर्थोंमें प्रयुक्त पाया जाता है, पर इसका आध्यात्मिक अर्थ एकदम सामञ्जस्यहीन नहीं है। नाना प्रकारकी क्रियाओं, साधनाओं और चिन्ताओंके घात-प्रतिघातसे यह मार्ग सन् इसवीकी द्वितीय सहस्राब्दीके आरंभमें जिस रूपमें आया था उसका सामान्य परिचय पा लेनेपर हम अपने आलोच्य साहित्यके अन्तरंगमें प्रवेश कर सकनेमें अधिक समर्थ होंगे। इस युगमें इस मार्गने हठयोग और तंत्राचारके रूपमें अपनेको अधिक प्रकाशित किया। इसलिए उनके सामान्य मतकी जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीने जब बौद्ध सहजयानके सिद्धाचार्योंके प्रति विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया तो जाना गया कि बहुतेरे सिद्धगण और नाथ-पंथके आचार्यगण एक ही नामधारी हैं। इनमें कुछ नाम तो काल्पनिक जान पड़े पर कुछ नामोंके ऐतिहासिक होनेमें कोई सन्देह नहीं किया गया। आगे चल कर जब इस विषयकी और भी चर्चा हुई तो जान पड़ा कि केवल ये नाम सिद्धों और नाथ-पंथियोंमें ही समान नहीं हैं बल्कि नाथ-पंथियों, निरंजन-पंथियों, सांत्रिकों आदिमें भी समान रूपसे प्रचलित हैं। इस सूचीमें निर्गुण मतके सन्तोंका नाम भी लिया जा सकता है। इस प्रकार इस विषयका अध्ययन केवल

महत्त्वपूर्ण ही नहीं काफी मनोरंजक भी सिद्ध हुआ है। दुर्भाग्यवश इस तरफ पंडितोंका जितना ध्यान आकृष्ट होना चाहिए था, उतना हुआ नहीं है। सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० गोपीनाथ कविराजका कहना है कि “हठयोगियों अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथ-पंथियों, वज्रयानियों और सहज्यानी बौद्धों, त्रिपुरा संप्रदायके तांत्रिकों, वीराचारियों, दत्तात्रेयके संप्रदाय-वालों, शैवों, परवर्ती सहजियों और नव-वैष्णवोंका नियमित और वैज्ञानिक अध्ययन ऐसी बहुत-सी बातोंका रहस्योद्घाटन करेगा जो इन सबमें समान रूपसे विद्यमान हैं। महायान बौद्धधर्म और तंत्रवादका संबंध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस संबंधमें सावधानतापूर्ण और गंभीर अध्ययनकी जरूरत है।” नाथ-पंथके आदि प्रवर्तक आदिनाथ या स्वयं शिव माने जाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ इन्हींके शिष्य थे। मत्स्येन्द्रनाथके कई शिष्य बहुत बड़े पंडित और सिद्ध हुए जिनके प्रभावसे यह मार्ग सारे भारतवर्षमें प्रतिष्ठित हो गया। इन शिष्योंमें सबसे प्रधान गोरखनाथ या गोरखनाथ थे। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथकी गवाहीपर म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीका कहना है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बादमें शैव हो गये थे। इसी लिए तिब्बतके लामा लोग गोरखनाथको बड़ी वृष्णाकी दृष्टिसे देखते हैं। गोरखनाथने ही योगमार्गके इस अभिनव रूपको प्रतिष्ठित कराया प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त ज्ञाननाथने अपनेको गोरखनाथकी शिष्य-परंपरामें माना है। उनके कथनानुसार यह परम्परा इस प्रकार है—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहिनी (गैनी) नाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ तेरहवीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इस प्रकार गोरखनाथ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दीमें हुए होंगे। गोरखनाथके कई शिष्य बताये जाते हैं, जिनमें बालनाथ, हालीक-पाव, मालीपाव आदि मुख्य थे। बंगालके राजा गोपीचंदकी माता मयनामती भी इनकी शिष्या थीं। हालीक-पाव या हाकिपा हाकी नामक अन्त्यज जातिमें उत्पन्न हुए थे। पहले वे बौद्ध थे, बादमें नाथपंथी हो गये थे। इन्हींका एक और नाम जालंधरनाथ है। गोपीचन्द इन्हीं जालंधरनाथके शिष्य थे। राजा भरथरी या भर्तृहरि भी इन्हींके शिष्य थे।

इन योगियोंकी अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातोंकी सैकड़ों कहानियाँ देशके इस सिरसे उस सिरतक फैली हुई हैं। जान पड़ता है कि आगे चलकर इन योगियों और निर्गुणमतवादी सन्तोंमें लोकपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी होड़ भी मची हुई थी। कबीरदास और गोरखनाथके करामाती दाँव-पेंचोंकी कहानी

काफी प्रसिद्ध है। बंगालके दिनाजपुर आदि जिलोंमें गोरक्षमतके अनुवर्ती कहे जानेवाले योगियोंमें 'धमाली' नामसे प्रचलित बहुतेरे अत्यन्त अश्लील गानोंका कैसे सम्बन्ध हुआ, यह बात अनुसंधान-योग्य है। इस प्रसंगमें केवल एक बात याद दिला देना चाहता हूँ जिसपर अगर अनुसंधान किया जाय तो कुछ नई बात जानी जा सकती है। युक्तप्रान्त और बिहारमें होलीके अवसरपर जो अश्लील और अश्रान्य गान गाये जाते हैं उन्हें 'जोगीड़ा' कहते हैं। जोगीड़ा गा लेनेके बाद लोग 'कबीर' गाते हैं जो और भी भयंकर होते हैं। क्या इन जोगीड़ों और कबीरोंके साथ योगियों और कबीर-पंथियोंकी किसी प्राचीन प्रतिद्वंद्विताकी स्मृति जड़ी हुई है या ये अश्लील गान भी उलटबौंसियोंकी भौंति किसी युगमें किसी अप्रस्तुत अन्तर्निहित सत्यकी ओर इशारा करनेवाले माने जाते थे।

अस्तु। यह तो अवान्तर प्रसंग हुआ। प्रस्तुत यह है कि हमारे आलोच्य कालके साहित्यमें सबसे प्रभावशाली मत, जिसपर वैष्णव मतको विजय पाना था, यही योगमार्ग है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि युक्त प्रान्तके और मध्य-प्रदेशके उन भागोंमें जहाँकी भाषा हिन्दी है, वैष्णव मतवादके प्रचारके पूर्व सर्वाधिक प्रचलित मतवाद शैवधर्म था। पर साधारण जनता चमत्कारोंपर अधिक विश्वास करती है और इन योगियोंके चमत्कारोंकी बड़ी ख्याति थी। सूरदासने अपने अमर-गीतके प्रसंगमें इस योग-मार्गकी विकटताका प्रदर्शन करके वैष्णव धर्मकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, पर कबीरदास आदिने इनकी संपूर्ण पद्धति स्वीकार करके फिर रूपकद्वारा अपनी बातको इसी पद्धतिके बलपर प्रतिष्ठित करनेका मार्ग अवलम्बन किया है। जायसीके तथा अन्य प्रेम-गाथा-कार कवियोंके ग्रंथोंसे पता चलता है कि योगियोंका मार्ग ही उस समय अधिक प्रचलित था। जो राजा अपने प्रेम-न्यापारमें निष्फल हो जाता था वह योगी हो जाता था। लोक-कथाओंमें इन योगियोंका बहुत उल्लेख है। उस युगके मुसलमान यात्री इन योगियोंकी करामतोंका वर्णन बहुत ही हृदयग्राही भाषामें करते हैं। भक्तिवादके पूर्व निस्सन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था। इसीलिए भक्तिवादमें इनके शब्द और मुहावरे ही नहीं इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गई है। आगे इस पद्धतिका संक्षिप्त विवरण संग्रह करनेकी कोशिश की जा रही है।

इनके सिद्धान्तानुसार महाकुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टि

परिण्यात है। व्यक्ति (व्यक्ति) में व्यक्त होनेपर इसी शक्तिको कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी-शक्ति और प्राण-शक्तिको साथ ही लेकर जीव मातृकुक्षिमें प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थाओंमें रहते हैं: जगृत, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं, या सोते रहते हैं या सपना देखते रहते हैं। इन तीनों ही अवस्थाओंमें कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। उस समय इसके द्वारा शरीर-धारणका कार्य होता है। इस कुण्डलिनीको ठीक ठीक समझनेके लिए शरीरकी वनावटकी कल्पना करनी चाहिए। पंठमें स्थित मेरुदण्ड सीधे जहाँ जाकर पाशु और उपस्थके मध्यभागमें लगता है वहाँ स्वयम्भू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्रमें अवस्थित है। इसे अग्नि-चक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्नि-चक्रमें स्थित स्वयम्भू लिंगको साढ़े तीन बलयों या वृत्तोंमें लपेट कर सपेकी भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलोंका एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभिके पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छः दलोंके कमलके आकारका है। इस चक्रके ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर हृदयके पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलोंके पद्मके आकारके हैं। इसके ऊपर कण्ठके पास विशुद्धाख्य चक्र है जो सोलह दलोंके कमलके आकारका है। और भी ऊपर जाकर भूमध्यमें आकाश नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही वे छः चक्र हैं जिन्हें 'षट् चक्र' कहकर बारंबार उत्तरकालीन सन्तोंने स्मरण किया है। इन चक्रोंको भेद करनेके बाद, मस्तकमें शून्य चक्र है जहाँ जीवात्माको पहुँचा देना योगीका चरम लक्ष्य है। इस स्थानपर जिस कमलकी कल्पना की गई है उसमें हजार दल हैं, इसी लिए इसे सहस्रार चक्र भी कहते हैं। अब मेरुदण्डमें प्राण-वायुको बहन करनेवाली कई नाड़ियाँ हैं जिनमेंसे कुछका आभास हम सोंस लेते समय पाते हैं। जो नाड़ी बाई ओर है उसे इडा और जो दाहिनी ओर है उसे पिंगला कहते हैं। कबीरदास इन्हीं दोनोंको कभी कभी इंगला-पिंगला कहकर स्मरण करते हैं। ये दोनों ही बारी बारीसे चलती रहती हैं। इन दोनोंके बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसीसे होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। असलमें, सुषुम्नाके भीतर भी कई और सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। सुषुम्नाके भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्म नाड़ी है जो कुण्डलिनी शक्तिका असल मार्ग है। साधक नाना प्रकारकी साधनाओंद्वारा कुण्डलिनी शक्तिकी ऊपरकी ओर या ऊर्ध्वमुख उद्बुद्ध करता है।

साधारण मनुष्यमें कुण्डलिनी अधोमुख रहती है और इसीलिए ऐसा मनुष्य कामक्रोधादिका क्रीत दास बना रहता है।

कुण्डलिनी जब उदबुद्ध होकर ऊपरको उठती है तो उससे स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका व्यक्त रूप है 'महाबिन्दु'। यह बिन्दु तीन प्रकारका होता है; इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौरपर योगी लोग इन्हींको कभी सूर्य, चंद्र और अग्नि कहते हैं और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते हैं। परवर्ती सन्त लोग भी कभी कभी अपने रूपकोंमें इन पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग करते हैं। अब, यह जो नाद और बिन्दु हैं वह असलमें अखिल ब्रह्माण्ड-व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नादका व्यष्टिमें व्यक्त रूप हैं अर्थात् जो नाद अनाहत भावसे सारे विश्वमें व्याप्त है उसीका प्रकाश जब व्यक्तिमें होता है तो उसे नाद और बिन्दु कहते हैं। बुद्ध जीव श्वास-प्रश्वासके अधीन होकर निरन्तर झुका और पिंगला मार्गमें चल रहा है। सुषुम्नाका पन्थ प्रायः बन्द है इसीलिए बुद्ध जीवकी इन्द्रियों और चित्त बहिर्मुख हैं। जो अखण्ड नाद जगत्के अन्तस्तलमें और निखिल ब्रह्माण्डमें निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे वह नहीं सुन पाता। परन्तु जब क्रिया-विशेषसे सुषुम्ना पन्थ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है तो प्राण स्थिर होकर उस शून्य पथसे निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनाहत नादको सुनने लगता है। ऐसा करनेसे मन विशुद्ध और स्थिर होता है और उसकी स्थिरताके साथ ही साथ यह ध्वनि अधिक नहीं सुनाई देती क्योंकि चिदात्मक आत्मा उस समय अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। और फिर बाह्य प्रकृतिसे उसका कोई सरोकार नहीं होता। यह नाद मूलतः एक होकर भी औपाधिक संबंधके कारण अर्थात् भिन्न उपाधियोंसे युक्त होनेके कारण सात स्तरोंमें विभक्त है। शास्त्रमें जिसे प्रणव या ओंकार कहते हैं वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। किसी किसी साधकने तथा वैद्याकरणोंने इसीको स्फोट कहा है। यह स्फोट अखण्ड सत्त्वरूप ब्रह्म-तत्त्वका वाचक है। स्फोटको ही शब्द-ब्रह्म और सत्ताको ब्रह्म कहा गया है। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि स्फोट वाचक शब्द है और सत्ता वाच्य। इस प्रकार वाच्य (ब्रह्म-सत्ता) को प्रकाशित करनेवाला वाचक शब्द भी (स्फोट या नाद) ब्रह्म ही है। इसका मतलब यह है कि ब्रह्म ही ब्रह्मका प्रकाशक है। इस सम्बन्धको लेकर भी सन्तोंने कितने ही गूढ़ रूपकोंकी रचना की है। यह शब्द

मूलाधारसे उठता है और सहस्रारमें जाकर लय हो जाता है। इतना जान लेनेके बाद हठयोगकी प्रक्रिया समझना आसान हो जायगा।

यह जो इतने पारिभाषिक शब्दोंकी नीरस अवतारणा की गई, वह परवर्ती साहित्यको समझनेमें अतिशय सहायक समझ कर ही। तो, हठयोग असलमें लक्ष्य नहीं है, इसे राजयोगका सोपान ही बताया गया है, यद्यपि पक्का हठयोगी इसके सिवा अन्य किसी योगकी बात सुनना ही नहीं चाहता। वस्तुतः राजयोग ही योगीका काम्य है। उसे ही प्राप्त करनेपर काल-बंधनसे छुटकारा मिलता है। इस हठयोगका उद्देश्य केवल शरीरकी शुद्धि और मनका सम्मार्जन है। देह-शुद्धिके लिए हठयोगकी क्रियाओंका विशाल ठाठ है,—धौति है, बस्ति है, नेति है, श्राटक है, नौलि है, कपालभाति है। इन्हें षट्कर्म कहते हैं जो देह-शुद्धिके कारण हैं। आसन और मुद्राओंके अभ्याससे देहकी दृढ़ता साधित होती है। फिर प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधिसे यथाक्रम शारीरिक धीरता, लघुता, आत्म-प्रत्यक्ष और निर्लेपता आवृत्त होती हैं। और असलमें जैसा कि कई आचार्योंने बताया है, आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादासुसंधान ये चार ही हठयोगके प्रधान प्रतिपाद्य विषय हैं। यह सब सिद्ध हो जानेके बाद सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं,—अर्थात् योगी हवामें उड़ सकता है, अपनी आत्माको निकाल कर विचरण कर सकता है और न जाने और कितनी कितनी विचित्र बातें कर सकता है! ये सिद्धियाँ योगीको पथ-भ्रष्ट भी कर सकती हैं, इसलिए उनसे सावधान रहनेकी ज़रूरत है। इतना गोरखबंधा,—और सच पूछिए तो यह गोरखनाथका योग ही 'गोरखबंधा' शब्दकी उत्पत्तिका कारण है,—पोथी पढ़कर नहीं हो सकता; मनन, चिन्तन और निदिध्यासनसे भी नहीं हो सकता। इसे तो करके दिखाना पड़ता है। इसीलिए इस जटिल कर्म-पद्धतिके लिए सद्गुरुकी बड़ी ज़रूरत आवश्यकता होती है। नाथपन्थी योगियों, सहज और वज्रयानियों, तान्त्रिकों और परवर्ती सन्तोंमें इसी लिए सद्गुरुकी महिमा इतनी अधिक गाई गई है। सद्गुरुके बिना जगत्के चाहे और सभी न्यापार हो जावे पर यह जटिल साधना-पद्धति नहीं हो सकती।

जिन दिनोंकी चर्चा हो रही है उन दिनों इस मार्गमें एक और अध्याय जोड़ा गया था; और आगे चलकर यह प्रक्षिप्त अध्याय मूलसे भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। सद्गुरुकी कृपासे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसे माने

बिना हठयोग तो क्या, कोई भी योग अग्रसर हो ही नहीं सकता। अब विश्वास किया जाने लगा कि सद्गुरु अपनी अंगुलिसे आशा-चक्रको छू दे तो बिना किसी टूटके सब कुछ सिद्ध हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह विश्वास ढकोसला था वा गपोड़ियापनका परिणाम था। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि सद्गुरु सचमुच ऐसा कर सकते हैं या नहीं। ये सब बातें साधनाकी हैं। जो लोग यह सब कहते हैं वे ललकार कर कहते हैं कि आजमा कर देख लो। हम लोग जो इस विषयसे सर्वथा अपरिचित हैं, जो केवल पोथी पढ़कर इस साधनाकी बातें गलत-सही ढंगसे खुरचकर बटोर लेते हैं, इस विषयमें कोई राय नहीं कायम कर सकते। सच पुछिए तो इस प्रकार बिना अनुभव किये राय देना सिर्फ हिमाकृत ही नहीं है, अन्याय भी है। जो बात प्रस्तुत विषयसे सम्बद्ध है वह इतनी है कि उन दिनोंके साहित्यमें इस विषयका भूरिश उल्लेख मिलता है। जब कि हठयोगकी पद्धति क्रिया-बहुल रही होगी उस समय इस पद्धतिका साधक-विरल होना नितान्त स्वाभाविक है। पर जब गुरुकी कृपापर सब कुछ निर्भर किया जाने लगा होगा तो स्वभावतः ही अधिकाधिक लोग सद्गुरुकी खोजमें लगे रहते होंगे। उनमेंसे सैकड़ों गुरुके निकट सत्पात्र होनेकी आशासे निरन्तर उम्मीदवारी करते होंगे। यह बात तो निश्चय ही उन दिनों भी असंभव ही रही होगी कि हजारोंकी संख्यामें लोग सिद्ध योगी हो जायें। पर साधारण जनताको सद्गुरुकी कृपाके नामपर आर्तकित करनेवाले और उनपर शैब जमानेवाले छोटे मोटे योगियोंकी एक विराट् बाहिनी जरूर तैयार हो गई होगी। ऐसा सचमुच ही हुआ था। ऐसे अलख जगानेवाले योगियोंसे सारा देश सचमुच ही भर गया था। तुलसीदास जैसे शान्त धिष्ट महात्मा भी इन योगियोंकी बाढ़से चिढ़ गये थे। एक जगह अलख जगानेवाले योगीको फटकारते हुए वे कहते हैं—“तुलसी अलखहि का लखै, राम-नाम लखु नीच।” मध्य-युगके सन्तोंकी वाणियोंके अध्ययनसे यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। इस हठयोग और तंत्रवादने इस देशमें गुरुवादका जो विकृत रूप प्रचार किया उसका नष्टन अब भी भारतवर्ष काट नहीं सका है। सन्तोंकी वाणियोंमें जहाँ बार बार सद्गुरुकी शरण जानेका उपदेश है वहाँ गुरुकी पहचानपर बहुत अधिक जोर दिया गया है।

हमने देखा है कि इस युगके प्राक्कालमें अनेकानेक मतवाद, सम्प्रदाय और

शास्त्र लोकमतके सामने झुक रहे थे। यह साधना-बहुल और क्रिया-क्लिष्ट योग-मार्ग भी उधर ही झुक पड़ा था। असलमें इस युगमें लोकमतकी जैसी प्रधानता दृष्ट हुई वैसी सम्पूर्ण भारतीय इतिहासमें शायद ही कभी देखी हो। इसीलिए इस युगका साहित्य भारतीय चिन्ताके अध्येताके लिए अपेक्षणीय तो है ही नहीं, अत्यधिक ध्येय है।

कबीरदास योग-प्रक्रियाके विरोधी नहीं थे परन्तु हठयोगियोंकी इन सभी क्लिष्ट साधनाओंको आवश्यक नहीं समझते थे। योगियोंकी कुछ क्रियाओंका अभ्यास वे नापसंद नहीं करते थे पर उसके सभी अंगोंको अन्य भावसे स्वीकार भी नहीं करते थे। कबीर जैसा उन्मुक्त विचारका आदमी किसी प्रकारकी रूढ़ियोंका कायल नहीं हो सकता था। उन्होंने बार बार धोषणा की है कि ए साधुओं, समाधि लगाया चाहते हो ताँट्टे और बलेड़ेमें न पड़ो। सहज-समाधि लगाओ। नाना प्रकारके प्राणायाम, आसन और मुद्रायें परमतत्त्वकी उपलब्धि के साधन हैं, साध्य नहीं। अगर सहज-समाधिके रास्ते ही परम तत्त्व मिल जाता है तो व्यर्थ ही कायकलश बढ़ानेसे क्या फायदा ? आँख मूँदे बिना, मुद्रा किये बिना, आसन लगाये बिना समस्त ब्रह्माण्डके रूपको देखो और उसके भीतरसे परम तत्त्वको खोज निकालनेकी चेष्टा करो। जब तुम्हें अनहद नाद सुनाई देगा तो आसन और प्राणायामकी जरूरत नहीं रह जायगी, रोम रोम थकित हो जायेंगे, समस्त इन्द्रिय श्लथवन्ध हो रहेंगे, मन आनन्दसे भर जायगा*। यह

* साथी सहज समाधि भली।

गुरु प्रताप जा दिनसे उपजी दिन दिन अधिक चली ॥
जहाँ जहाँ डोलों सो परिकरमा जो कछु करों सो सेवा ॥
जब सोवो तब करों दशद्वत पूजों और न देवा ॥
कहाँ सो नाम सुनों सो सुमिरन खँव-पियों सो पूजा ॥
गिरह उजाह एक सम लेखों भाव न राखों दूजा ॥
आँख न मूँदों कान न रूँधों, तनिक कष्ट नहि वारों ॥
खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि, सुंदर रूप निहारों ॥
सबद निरंतरसे मन लागी मखिन वासना त्यागी ॥
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै पेसी तारी लागी ॥
कह कबीर यह ठनमुनि रहनी, सो परगट करि भाई ॥
दुख सुखसे कोई परे परम पद तेही पद रहा समाई ॥

कबीरदासका निजी अनुभव था जिसे उन्होंने गुरुके प्रतापसे पाया था ।

यह सहज समाधि है क्या चीज ? योगियोंके यत्नसे जब प्राणायामके द्वारा वायु ब्रह्म-रश्मिमें प्रवेश करता है तो जिस आनन्दपूर्ण अवस्थाको मन प्राप्त होता है उसे योगी लोग 'लय' या 'मनोन्मनी' (कबीरदासके शब्दोंमें 'उनमुनि रहनी') या 'सहजावस्था' कहते हैं । यही योगियोंकी सहज समाधि है । पर कबीरदास इसको सहज समाधि नहीं कहते । उनकी परिकल्पित सहज समाधिमें साधक जहाँ कहीं जाता है वहीं परिक्रमा करता रहता है, जो कुछ करता रहता है वहीं 'सेवा' कहलाती है, उसका सोना, दण्डवत्, बोलना, नामजप, सुनना, सुमिरन, खाना-पीना ही पूजा है । अर्थात् सगुणोपासक भक्त-गण भगवान्‌के विग्रहकी परिक्रमा, सेवा, नाम-जप आदि द्वारा जो भक्ति दर्शाते हैं वह सभी सहज समाधिके साधकके साधारण आचारण द्वारा ही सिद्ध हो जाती है और फिर योगी लोग जिन क्रियाओंसे परम लक्ष्यको प्राप्त करनेका दावा करते हैं वह भी उसे नहीं करनी पड़ती । यह अनायास ही उसे सिद्ध हो जाती है । उसे आँखें नहीं मूँदनी पड़ती, कष्ट नहीं उठाना पड़ता, खुली आँखोंसे ही निखिल चराचरमें परिब्याप्त भगवत्सत्ताका साक्षात्कार उसे हो जाता है । यह समाधि आसन मारके नहीं करनी होती, उठते बैठते सब समय यह संभव है । स्पष्ट ही ऐसी समाधि वही लगा सकता है जो असीम विश्व-ब्रह्माण्डमें परिब्याप्त अनन्त सत्ताको सदा सर्वदा अनुभव कर सके । यह ज्ञानका विषय है । कबीरदास इस ज्ञानद्वारा प्राप्त अनुभवैकगम्य समाधिको ही श्रेष्ठ समझते थे । इस ज्ञानके नूतन अनेक कारण माया है । मायासे वृद्ध जीव इस जगत्‌को गलत समझता है, अर्थात् जो नहीं है उसकी सत्ता अनुभव करता है और जो है, उसकी सत्ता नहीं अनुभव कर पाता । कबीरदासने बार बार इस मायासे सावधान रहनेको कहा है । सच्चा ज्ञान होनेपर डंडा मुद्रा आदिके धारणकी जरूरत नहीं रह जाती और न कोई भेख धारण करनेकी आवश्यकता होती है । वे उन लोगोंको पागल ही समझते हैं जो आसन-मुद्राके कपट-जालमें पड़े हुए हैं, क्योंकि योगीका लक्ष्य यदि भगवत्प्राप्ति हो तो भगवान् तो स्वयं त्रिभुवनको भोग कर रहे हैं । उनके लिए योग साधने और घर-बार छोड़नेकी तो जरूरत ही नहीं* ।

* डंडा मुद्रा स्तिथा अवारी । भ्रम कै माई भवै भेखधारी ॥

आसन धवन दूरि कर बौरै । छोड़ कपट नित हरि भज बौरै ॥

जो सहज-साध्य है, उसके लिए कुच्छ-साधना व्यर्थ है। कबीरके बाद उनके संप्रदायवालोंने या तो कबीरको संपूर्ण वेदान्ती बना देनेकी चेष्टा की या संपूर्ण योगी। उनका योग-मार्गकी ओर झुकाव बढ़ता ही गया। ऐसे भजन कबीरके नामपर मिल जाते हैं जिनमें आसन या प्राणायाम करनेकी शिक्षा दी गई है; पर ऐसे भजनोंकी प्रामाणिकता सन्देहसे परे नहीं है। कबीरदासके मतसे योगी वह है जिसकी मुद्रा मनमें है, जो दिन-रात अपनी साधनामें जगा रहता है। मनमें ही उसका आसन है, मनमें ही समाधि; मनमें ही जप-तप है, मनमें ही कथोपकथन; मनमें ही खप्पर, मनमें ही सिंगा और मनमें ही उसका अनहद नाद भी बजा करता है। वही ऐसा हो सकता है जो पञ्चेंद्रियगत विषयोंको दग्ध करके उन्हींकी राख शरीरमें मल सके, वही ऐसा योगी है जो लंका जला सके, अर्थात् सिद्धि प्राप्त कर सके *। अर्थात् वह शान्ति है। उसके मनसे द्वैत-भावना जाती रही है, वह त्रिराट् भगवत्सत्ताको मन और प्राणसे अनुभव कर चुका है। इस सहज-साधनाके लिए निर्गुण मतके साधक योग और तंत्रके कुच्छाचारकी आवश्यकता नहीं समझते। पर इसकी व्यावहारिक कठिनाइयोंसे भी वे सावधान थे। उन्हें ज्ञात था कि इस साधनामें अधिक साहस, अधिक वीरता और अधिक संयमकी जरूरत है। वे उसको 'वीर' नहीं कहते जो तांत्रिक 'वीराचार' में दीक्षित है बल्कि उसे जो साहसपूर्वक अपने आपको कुरबान कर सकता है। दादू दयालने कहा है कि अपना सिर काटकर कबीर वीर हुए थे। ('कबीर' का आदि अक्षर अर्थात् 'क' काट दिया जाय जो शब्दके सिरक समान है तो 'बीर' शब्द भी बन जाता है।)+

जिहि तू चाहहि सो त्रिसुवन-भोगी । कहि कबीर कैसी जग-जोगी ॥

* सो जोगी जाके मनमें मुद्रा । रात-दिवस ना करह निद्रा ॥

मनमें आसन मनमें रहना । मनका जप-तप मनसूँ कहना ॥

मनमें खप्पर मनमें सींगी । अनहद बेन बजावे रंगी ॥

पंज पजारि भसम करि बंका । कहै कबीर सो लहतै लंका ॥

+ अपना मस्तक काटिकै वीर हुआ कबीर ।

सगुण-मतवाद

अब मध्य-युगके सगुण भावसे भजन करनेवाले भक्तोंकी बात ठीक ठीक समझनेके लिए उनके शास्त्रीय मतवादको जानना जरूरी है। अगर इन शास्त्रीय सिद्धान्तोंको नहीं जान लिया जायगा तो यह समूचा साहित्य, जो वस्तुतः बहुत ही महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली है, परस्पर-विरोधी बातोंका सामंजस्यहीन एक विचित्र संग्रह जान पड़ेगा। परम्परासे उसी वातावरणमें पले हुए सहृदयके निकट चाहे उसमें कोई विचित्रता या विरोध न दिखाई पड़े पर बाहरका आदमी ठीक ठीक नहीं समझ सकेगा कि वैराग्य और भक्तिके प्रचारक भक्तगण किस प्रकार चौर-हरण और पनघट-लीलाओंका गान करते हुए भी अपूर्व भाव-रसमें निमग्न हो सकते हैं। उनके हृदयमें, सतीकी भाँति, पहले तो ब्रह्मके इस प्राकृत रूपके विषयमें ही सन्देह होगा—

“ब्रह्म जो व्यापक निरञ्ज अञ्ज, अकल अनीह अभेद;

सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ?

विष्णु जो सुरहित नर-तनु-वारी। सोठ सर्वम्य यथा त्रिपुरारी ॥

खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी ॥

मध्य-युगके इस श्रेणीके भक्तोंका प्रधान उपजीव्य ग्रंथ भागवत पुराण रहा है। परन्तु अन्यान्य पुराणोंको भी उन्होंने प्रमाण रूपसे स्वीकार किया है। किसी सम्प्रदायमें तो भागवतको ही एकमात्र प्रामाण्य ग्रंथ मान लिया गया है। विद्वानोंका अनुमान है कि सन् ईसवीकी एक सहस्राब्दी बीत जानेके बाद सभी पुराणोंने वर्तमान रूप ग्रहण कर लिया होगा, यद्यपि उनमें जो उनके प्राचीन

रूपोंका आभास मिलता है वह काफी प्राचीन है *। वैष्णव पुराणोंमें विष्णु-पुराण सबसे अधिक प्राचीनताके चिह्नोंसे युक्त है। विष्णुके किसी भी बड़े मन्दिर या मठकी चर्चा इस पुराणमें नहीं है। श्री रामानुजाचार्यने अपने मतकी पुष्टिके लिए इसीके वचन उद्धृत किये हैं। किसी किसीने अनुमान किया है कि विष्णु-पुराणमें उल्लिखित कैलकिल या कैङ्किल यवनोंने आन्ध्र देशमें (५००-९०० ई०) चार सौ वर्षतक राज्य किया था। अतः इस पुराणका काल सन् ईसवीके नौ सौ वर्षसे अधिक पुराना नहीं है। पर यह बात केवल कल्पना ही कल्पना है, किसी ऐतिहासिक प्रमाणसे अबतक सिद्ध नहीं की जा सकी है। यह पुराण सभी वैष्णवोंके लिए प्रमाण और आदरका पात्र है परन्तु भक्ति-तत्त्वका विशद वर्णन इसमें नहीं है। इस विषयमें भागवत पुराण बेजोड़ है। क्या कवित्व-शक्ति, क्या शास्त्रीय-तत्त्व, क्या ज्ञान-चर्चा—भागवत पुराण किसीमें अपना प्रतिद्वंदी नहीं जानता। कहा गया है कि विद्वानोंकी परीक्षा भागवतमें होती है, 'विद्यावतां भागवते परीक्षा'—यह बात बिल्कुल ठीक है। इस महापुराणने रामायण और महाभारतकी भाँति समस्त भारतीय चिन्ताको बहुत दूरतक प्रभावित किया है। मध्य-युगमें तो इसका प्रभाव उक्त दो ग्रंथोंसे कहीं अधिक रहा है। अकेली बँगलामें इसके ४० अनुवाद हो चुके हैं।

हिन्दीमें भी उसके अनुवाद और आश्रित ग्रंथोंकी संख्या बहुत अधिक है। हिन्दीका गौरवभूत महान् गीति-काव्य सूरसागर इसी ग्रंथसे प्रभावित है और तुलसीदासजीकी रामायणके सिद्धान्त अधिकांशमें भागवतसे ही ग्रहण किये गये हैं। किसीने यह बात उद्धृष्ट है कि भागवत महापुराणके रचयिता बोपदेव थे। यह अत्यन्त आन्तिमूलक बात है। बोपदेवने भागवतके वचनोंका एक संग्रह-ग्रंथ तैयार किया था। लेकिन यह बात धीरे धीरे विश्वास की जाने लगी है कि इस महापुराणकी रचना कहीं दक्षिण देशमें ही,—शायद केरल या कर्नाटकमें हुई होगी, क्योंकि वृन्दावनके प्रसंगमें शरत्कालमें जिन पुष्पोंके फूलनेका वर्णन इस ग्रंथमें आया है, उनमेंसे कई वृन्दावनमें उस समय नहीं फूलते और केरल-कर्नाटकमें फूलते हैं। इस विषयमें भी कोई सन्देह नहीं कि भागवत अन्यान्य पुराणोंकी अपेक्षा एक हाथकी रचना अधिक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, रामचरित-मानस या तुलसीरामायणमें भागवतके सिद्धान्त

* देखिए परिशिष्ट—पुराण।

भरे पड़े हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि भागवतमें जो स्थान श्रीकृष्णको दिया गया है, वही स्थान रामायणमें रामचंद्रको दिया गया है, और भागवतमें जहाँ माधुर्य-भावको प्रधान स्थान दिया गया है वहाँ रामायणमें प्रीति-भावको। माधुर्य-भाव और प्रीति-भावके अन्तरको हम आगे स्पष्ट करेंगे।

इस भागवत महापुराणके अनुसार भगवान् वैकुण्ठ आदि धामोंमें तीन रूपसे निवास करते हैं—स्वरूप, तदेकात्मरूप और आवेशरूप। श्रीकृष्णचंद्र भगवान्के स्वरूप हैं, रामचरितमानसक राम भी ऐसे ही हैं*। तदेकात्मरूपमें उन अवतारोंकी गणना होती है जो तत्त्वतः भगवद्रूप होकर भी रूप और आकारमें भिन्न होते हैं। इसके उदाहरण मत्स्य, वराह आदि लीलावतार हैं। ज्ञान-शक्त्यादि विभागद्वारा भगवान् जिन महत्तम जीवोंमें आविष्ट होकर रहते हैं उन्हें आवेशरूप कहते हैं। जैसे वैकुण्ठमें नारद, शेष, सनक, सनंदन आदि।

गीतामें कहा है कि जब जब धर्मकी खानि होती है, अधर्मका अभ्युत्थान होता है तब तब मैं अपने आपको मनुष्य रूपमें सृष्ट करता हूँ। गीताकी इस बातको तुलसीदासने पौराणिक रूपमें समझा था। उनकी दृष्टिमें जब जब धर्मकी खानि होती है और अधम अभिमानी राक्षसोंकी वृद्धि होती है, तब तब भगवान् मनुज रूप धारण करते हैं और संसारकी पीड़ा दूर करते हैं। परन्तु अवतारका एकमात्र कारण यही नहीं है। प्रधान कारण भी यह नहीं है। मुख्य कारण है

* भागवतके श्रीकृष्ण और रामायणके रामकी तुलना कीजिए—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनदिरदिगोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

—भागवत

और—

सोइ सच्चिदानंदघन रामा । अज विग्यान-रूप बलधामा ॥
व्यापक व्याप्य असंड अनंता । अखिल अमोघ साक्षि भगवंता ॥
अगुन अदभ्र गिरा-गोतीता । सबदरसी अनवद्य अजीता ॥
निर्मल निराकार निर्मोहा । नित्य निरंजन सुखसंदोहा ॥

—रामायण

अपने भक्तों पर अनुग्रह करना^१। इस प्रकार भगवान्‌के तीन प्रकारके अवतार होते हैं: पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। पुरुषावतार भी तीन प्रकारके हैं। जो महत्तत्त्वके सृष्टिकर्ता हैं उन्हें प्रथम पुरुष, जो निखिल ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टिके अन्तर्यामी हैं उन्हें द्वितीय पुरुष और जो सर्वभूत अर्थात् व्यष्टिके अन्तर्यामी हैं उन्हें तृतीय पुरुष कहते हैं। इसका अर्थ यह समझना चाहिए: प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही सृष्टि उत्पन्न होती है। संयोगके बाद प्रकृतिके यह बुद्धि होती है कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ। इसी बुद्धिको महत्तत्त्व कहते हैं। जो पुरुष इस बुद्धिके कर्ता हैं वे ही प्रथम पुरुष हैं। फिर सम्पूर्ण समाष्टिरूपा सृष्टिके जो अन्तर्यामी हैं वे द्वितीय पुरुष हैं। अब तक एक बहुत हो गया रहता है और उसमें पृथक्त्व या अहंकार-तत्त्वका प्रादुर्भाव होता है। इसी पृथक्त्वके अन्तर्यामी भगवान्‌को तृतीय पुरुष कहते हैं। गुणावतार तो प्रसिद्ध ही हैं। सत्त्वगुणसे युक्त अवतार ब्रह्मा, रजोगुणसे युक्त विष्णु और तमोगुणसे युक्त अवतार रुद्र या शिव हैं।

लीलावतार चौबीस हैं—चतुःवन, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयशीर्ष, इंद्र, ध्रुवप्रिय, ऋषभ, पृथु, नृसिंह, कूर्म, वन्वतरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, राघवेन्द्र, न्यास, बलराम, बुद्ध, और कल्कि।

तुलसीदासजीने कहा है कि ब्रह्मके दो रूप हैं, अगुण और सगुण। इनमें सगुण रूप निर्गुण रूपकी अपेक्षा दुर्लभ है। इसीलिए सगुण भगवान्‌के सुगम, और फिर भी अगम, चरित्रोंको सुनकर मुनियोंके मनमें भी मोह उत्पन्न हो जाता है^२। वास्तवमें सगुण और अगुण या निर्गुण रूपमें कोई भेद नहीं। जो भगवान्‌ अगुण, अरूप, अलक्ष और अज हैं वही भगवान्‌ भक्तके प्रेमवश सगुणरूप धारण

१ भगतेहेतु भगवान् प्रभु, राम धरेठ तनु भूष ।

किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥

इसकी तुलनाके लिए ब्रह्माण्ड-पुराणके इस वचनको देखिए—

स्वलीलाकीर्तिविस्तारात् भक्तेष्वनजिघृक्षया ।

अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः ॥ —लघुभागवतामृतमें उद्धृत

२ निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन जान नहीं कोई,

सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ । —उत्तरकाण्ड

करते हैं^१। जो लोग उसके केवल निर्गुण रूपको मानते हैं वे असलमें भगवान्‌के एक अंशमात्रको जानते हैं। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि उसका गुणमय रूप नहीं है। क्योंकि, जैसा कि नन्ददासने कहा है, जो उनमें गुण न होते तो और गुण आते कहाँसे ? कहीं बीज बिना वृक्ष भी किसीने देखा है^२ ? निर्गुण और सगुणके विषयमें सूरदासका दृष्टिकोण तुलसीदाससे थोड़ा भिन्न है। ये सगुणको सहजसाध्य मानते हैं और निर्गुण उपासनाको कष्ट-साध्य। सगुण उपासना सरस और ग्राह्य है पर निर्गुण उपासना नीरस^३।

यद्यपि निखिलानन्दसंदोह भगवान्‌ वही हैं जिन्हें अष्टांग योगी परमात्मा, औपनिषदिकगण ब्रह्म और ज्ञान-योगी लोग ज्ञान कहते हैं^४ तथापि ब्रह्म या परमात्माकी अपेक्षा श्रीकृष्ण (रामचरितमानसके राम) कहीं श्रेष्ठ हैं। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌का भेद अगले प्रकरणमें स्पष्ट किया गया है। भागवतमें कहा है कि एक ही क्षीर आदि द्रव्य जिस प्रकार बहुगुणाश्रय होकर चक्षु आदि इंद्रियोंद्वारा भिन्न भिन्न रूपोंमें ग्रहीत होते हैं उसी प्रकार भगवान्‌ उपासना-भेदसे नाना प्रकारके प्रतिभात होते हैं^५। फिर भी श्रीकृष्णमें माधुर्य आदि गुणोंका प्रासुर्य होनेसे भगवान्‌का यह रूप ही श्रेष्ठ है। भागवतमें ही अन्यत्र कहा गया है कि, 'हे विभो, यद्यपि निर्गुण और सगुण दोनों ही तुम्हीं हो, तो भी

१ अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा । गवहिं मुनि पुरान बुष वेदा ॥

अगुन अरूप अलख अज जेई । भगतप्रेमबस सगुन सो होई ।

२ जो उनके गुन नहीं और गुन भये कहाँते ?

बीज बिना तरु जमै मोहिं तुम कहाँ कहाँते ? —भ्रमरगीत ।

३ मधुकर हम अयात अति मोरी ।

जाने कहा जोगकी बातें, जे हैं नवलकिशोरी ॥ —सूरदास ।

४ भगवान्‌ परमात्मेति प्रेच्यतेऽष्टांगयोगिभिः ।

ब्रह्मैतुपनिषद्भिर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः ॥

—लघुभागवतामृतमें स्कंदपुराणकी उक्ति ॥

५ यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैः अर्थो बहुगुणाश्रयः ।

एकौ नानेयते तद्वत् भगवान्‌ शास्त्रवर्त्मभिः ॥ —भागवत ३, ३२, ३३.

विशुद्ध चित्तद्वारा तुम्हारे निर्विकार रूपहीन विज्ञान-वस्तुके रूपमें अगुण ब्रह्मकी महिमा कदाचित् समझमें आ भी जाय, तो भी इस विश्वके लिए अवतीर्ण तुम्हारे इस सगुण रूपकी गुणावली गिननेमें कौन समर्थ होगा ? जो अतिनिपुण हैं वे भी यदि दीर्घ काल तक गिनैं तो पृथ्वीके परमाणु, आकाशके हिमकण और सूर्यादिकी किरणें गिन सकते हैं, पर वे भी तुम्हारे सगुण रूपके गुणोंकी गणना नहीं कर सकते^१ ।

किन्तु भगवान्‌के ये गुण प्राकृत नहीं हैं अतः प्राकृत जनोंके आचरणादिके मान-दण्डसे इन्हें नहीं मापा जा सकता । वे असंख्य अप्राकृत-गुणविशिष्ट अपरिमित शक्तिशाली और पूर्णानन्दघन विग्रह हैं । कहा गया है कि निर्गुण निर्विशेष और अमूर्त ब्रह्म और श्रीकृष्णका सम्बन्ध प्रभा और प्रभाकरके समान है । निराकार ब्रह्म (अर्थात् चैतन्यराशि), अव्यय, अमृत (अर्थात् नित्यमुक्ति), नित्यधर्म (अर्थात् श्रवण प्रभृति भक्तियोग) और ऐकान्तिक सुख (अर्थात् प्रेमभक्ति) इन सबके आश्रय श्रीकृष्ण ही हैं ।^२ वे यद्यपि अज हैं फिर भी भक्तोंके लिए जन्म ग्रहण करते हैं । यह बात कुछ अद्भुत-सी सुनाई देती है । क्योंकि एक ही पदार्थ एक ही साथ अज और जात नहीं हो सकता । इसके उत्तरमें भागवत लोग कहते हैं कि भगवान्‌का ऐश्वर्य और वैभव अचिन्त्य है, उसकी तुलना प्राकृत जन्मादि न्यायसे नहीं हो सकती ।

१ तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते,
विशेषेण महत्यनलान्तरात्मनिः ॥

अविक्रियात्स्वानुभवादरूपता,
छानन्यवोधात्मतया न चान्यथा ॥

गुणात्मनस्तेऽगुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईषिरेऽस्य
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै
भूपांसवः खे मिहिका धुमासः ॥

—भागवत १०, १४, ६-७

१ लघुभागवतामृत, पृ० २१७

जैसा कि ऊपर बताया गया है, अवतारका मुख्य हेतु भक्तोंके लिए लीलाका विस्तार करना ही है। यह लीला दो प्रकारकी होती है, प्रकट और अप्रकट। मध्ययुगके भक्तोंने अधिकतर प्रकट लीलाका ही गान किया है, अर्थात् जो लीला प्रपञ्चगोचर होती है, उसीका विस्तार किया है। वृन्दावनमें भगवान् गोपियोंके साथ नित्य लीलामें रत हैं। मथुरा और द्वारकाके भेदसे श्रीकृष्णके दो धाम हैं। उनमें भी मथुराधाम गोकुल और मधुपुरी इन दो स्थानोंके भेदसे दो हैं। गोलोक नामसे प्रसिद्ध श्रीकृष्णका धाम गोकुलकी ही विभूति है, क्योंकि श्रीकृष्णकी माधुरी गोकुलमें ही सर्वाधिक होती है। मथुराधामकी महिमा वैकुण्ठसे भी अधिक है।^१ रामायणकी अयोध्या भी ऐसी ही है।^३

यह भगवान्की माधुरी चार प्रकारकी है। ऐश्वर्य-माधुरी, क्रीडा-माधुरी, वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी। ऐश्वर्य-माधुरीमें भगवान्के ईश्वर-रसकी प्रधानता होती है। क्रीडा-माधुरी बहुत प्रकारकी है फिर भी उन सबमें गोप-लीला श्रेष्ठ है। भागवतमें बताया गया है कि भगवान्ने जब वेणुको अपने अध-रोपर रखा और उसे निनादित किया तो सर्वत्र होकर भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवतागण तत्त्व निर्णय न कर सके,—सभी मुग्ध हो रहे।^२ इससे प्रकट है कि भगवान्की वेणु-लीला अचिन्त्य है। सूरदासने और अन्य भक्तोंने

१ जगनायक-जगदीसपियासी जगतजननिजगरानी ।

नित बिहार गोपाललाल सँग वृन्दावन रजधानी ॥ —सूरदास

२ अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी ।

दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते ॥ —लघुभागवतामृत

३ यद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना । वेद-पुरान-विदित जग-जाना ॥

अवध-सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ । यह प्रसंग जाने कोउ कोऊ ॥

अति प्रिय मोहि इहांके वासी । मम धामदा पुरी सुखरासी ॥

४ विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुवा निजशिक्षा ।

तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः ।

सवनशस्तदुपधार्यसुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।

कवय आनतकन्धरचिच्छाः कदमलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः

भा० १०, ३५, १४-१५

इस वेणु-निनादका वर्णन विस्तृत रूपसे किया है। भगवान्की विग्रह-माधुरी अर्थात् रूप-माधुर्यसे मध्ययुगका साहित्य भरा पड़ा है। ऐसा तनुधारी जगत्में नहीं जो इस रूप-माधुरीके दर्शनसे मुग्ध न हो गया हो।^१ गोस्वामी तुलसीदासने प्रत्येक न्यक्तिके साथ भगवान्के समागमके संगमें वड़ी सावधानीसे उसका मुग्ध होना बताया है। इस विषयमें रामचरितमानसके राम और भागवतके श्रीकृष्ण समान हैं। भागवतमें कहा है कि त्रिलोकीमें ऐसा कौन है जो भगवान्के कल-पदामृतरूप वेणु गीतसे विमोहित होकर और त्रैलोक्य-सौभग इस रूपको देखकर मुग्ध न हो जाय ? इस वेणु-गीतको सुनकर और रूपको देखकर गायें, पक्षी, वृक्ष और मृग भी पुलकित हो जाते हैं^२। इस माधुरीका छका हुआ भक्त स्वर्ग अपवर्ग नहीं चाहता, श्रद्धासिद्धिकी परवा नहीं करता, केवल अनन्त कालतक अव्यभिचारिणी भक्तिकी कामना करता है। एक बार इस संगुण रूपको स्मरण करके वह ज्ञान-विज्ञान सबको नमस्कार कर देता है। ज्ञान और विज्ञान धर्म और कर्म, सभी भक्तिके सामने तुच्छ हैं। क्योंकि वह जानता है कि ज्ञानका मार्ग कृपाणकी धारा है। उसपरसे गिरते देर नहीं लगती। उसे किसी प्रकार पार किया जा सके तो निश्चय ही कैवल्यपद प्राप्त किया जा सकता है; लेकिन भक्तके पास तो यह कैवल्य पद बिना माँगे जवर्दस्ती आना चाहता है। हरि-भक्तिके बिना बड़ासे बड़ा पद भी टिक नहीं सकता^३। यह भक्तिरूप चिन्तामणि

१ कहहु सखी अस को तनुधारी । जो न मोह अस रूप निहारी ॥

—रामचरितमानस

२ का स्त्र्यंग ते कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहितव्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रज ॥

—भागवत १०, २९, ४०.

३ ग्यानं पंथ कृपाणुके धारा । परत खगेस होइ नहि वारा ॥

जो निरविघन पंथ निरबहई । सो कैवल्य परम पद लहइ ॥

अति दुरलभ कैवल्य परमपद । संत पुरान निगम अगम बंद ॥

राम भजत सोइ मुक्ति गोसाई । अन इच्छित आवै बरिआई ॥

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई । कोटि भौंति कोठ करइ उपाई ॥

तथा मोच्छसुख सुनु खगराई । रहि न सकै हरि-भगति बिहई ॥—रामायण

तबतक भक्तको प्राप्त नहीं होती जबतक भगवान् स्वयं कृपा न करें। 'भक्तिहीन ब्रह्मा भी भगवान् के निकट अप्रिय है पर भक्तियुक्त नीचसे नीच प्राणी भी उन्हें प्राणके समान प्रिय है'। वह प्राणी जन्म और कर्मसे कितना भी ओछा क्यों न हो भगवान् उसके निकट दौड़ आते हैं^१।

ऊपर जिस भक्तिकी बात कही गई है वह दो प्रकारकी होती है, रागानुगा और वैधी। कर्तव्य-बुद्धिसे जो नियम स्थिर किये जाते हैं उसे विधि कहते हैं और स्वाभाविक रुचिसे जो वृत्ति उत्तेजित होती है उसे राग कहते हैं। अर्थात् इष्ट वस्तुके प्रति स्वाभाविक तन्मयताको राग कहते हैं। और राग जिसके प्रति घावित होता है वही इष्ट होता है। भगवान् और बद्ध जीवमें एक स्वभावगत पार्थक्य यह है कि जीवमें विषयासक्ति होती है और भगवान्में वैराग्य। तुलसीदासने कहा है कि भगवान् अखण्ड ज्ञान-स्वरूप हैं और जीव मायावश अज्ञानी। यह जीव मायाके वशमें होनेके कारण परवश है और भगवान् मायाके अधिपति और स्ववश। जड़ देहके प्रति भी राग होता है पर चूँकि वह जड़ोन्मुख होता है इसलिए संसारमें बंधनका कारण होता है, पर जीवकी स्वाभाविक राग-प्रवणता यदि भगवान् की ओर हो जाय तो वह तर जाता है। जड़-जगत्में विधि और रागमें विरोध दिखता है पर भगवद्विषयक होनेपर विधि और रागमें कोई विरोध नहीं रह जाता। जबतक राग पुष्ट नहीं होता तभी तक भक्तको कर्तव्याकर्तव्यका बंधन रहता है। ब्रजवासियोंका भगवान् के प्रति रागात्मक सम्बन्ध था। इसीलिए उनकी भक्तिको रागात्मक भक्ति कहते हैं। इस भक्तिके अधिकारी केवल ब्रजवासी ही थे। जो भक्त उनका अनुकरण और अपनेमें उनका अभिमान करके भगवान् के प्रसंग-मुखका अनुभव करते हैं उनकी भक्तिको रागानुगा भक्ति कहते हैं।

१. सो मति यदपि प्रगट जग अहई । रामकृपा बिनु नहि कोठ लहई ।

२. भक्तिहीन विरांचि किन होई । सब जीवनमेंह अप्रिय सोई ।

—रामायण

३. काट्टके कुल नाहि विचारत ।

अविगतकी गति कहाँ कौन सों पतित सबनको तारत ॥

ओछे जन्म कर्मके ओछे ओछे ही बोलावत ।

अनत सहाय सुरके प्रभुकी भक्तहेतु पुनि आवत ॥

—सूरदास

रागानुगा और वैधी भक्तिके साधक शरीर, मन, आत्मा, प्रकृति और समाजगत अनुशीलनोंके द्वारा भगवान्‌का भजन करते हैं। उनके लिए ये दस आचार निषिद्ध हैं—(१) बहिर्मुख लोगोंका संग अर्थात् अनैतिक, अविश्वासी और मिथ्याचारी लोगोंका संग उन्हें त्याज्य है। (२) शिष्य, संगी, भृत्य या बान्धवोंद्वारा किया हुआ अनुबंध, (३) महारंभका उद्यम, (४) नाना ग्रंथ, कलाओं और वाद्योंका अभ्यास, (५) कृपणता, (६) शोकादिसे वशीभूत होना, (७) अन्य देवताके प्रति अवज्ञा, (८) जीवोंको उद्धिग्न करना, (९) सेवापराध अर्थात् यत्नका अभाव, अवज्ञा, अपवित्रता, निष्ठाका अभाव और गर्व तथा (१०) नामापराध अर्थात् साधुनिन्दा शिव और विष्णुका पृथक्त्व-चिन्तन, गुरु-अवज्ञा, देवादिनिन्दा, नाम-माहात्म्यके प्रति अनास्था, हरिनामकी नानाविध अर्थ-कल्पना, नाम-जप और अन्य शुभकर्मोंकी तुलना करना, अश्रद्धालुको नामोपदेश, नामके प्रति अप्रीति। वैष्णव भक्तकी तीन अवस्थायें होती हैं: श्रद्धावान्, नैष्ठिक आरुचियुक्त। ये लोग पाँचों अंगों और दो मूलतत्त्वोंको स्वीकार करते हैं। दो मूलतत्त्व हैं—(१) भगवान् ही एकमात्र जीवोंका स्मर्तव्य है और जो उनके सुमिरनमें सहायक हैं वे ही कर्म भक्तके कर्तव्य हैं,—चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, (२) भगवान्‌को भूल जाना ही अमंगल है और इस अमंगलके सहायक सभी कार्य त्याज्य हैं। पाँच अंग इस प्रकार हैं—(१) भगवान्‌के विग्रह (मूर्तियों) की सेवा, (२) कथा-सत्संग, (३) साधु-संग, (४) नाम-कीर्तन और (५) ब्रजवास। वैधी मार्गका साधक स्वभावतः ही इन्हें पालन करता है। भक्ति-शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार कोई भक्त किसीसे छोटा या बड़ा नहीं है पर भक्तकी स्वाभाविक इच्छा हो हीती है कि भगवत्-प्रसंगमें उसकी स्वाभाविक रुचि हो जाय।

अब, मध्ययुगके भक्ति-साहित्यको देखें तो उसमें इन विधि-निषेधोंके उपदेश, रूपक और अन्योक्तियाँ भरी पड़ी हैं। भक्ति शास्त्रकी मर्यादाको न समझनेवाले इन बातोंसे ऊब जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि इस युगका साहित्य केवल साहित्य है बल्कि लोकमें बढमूल साधना-पद्धतिका प्रतिफलन भी है। उसका यह सारा पहलू ही अधिक महत्वपूर्ण है।

ऐसे भक्त बहुत कम हैं जिनको भगवत्प्रसादसे एकाएक प्रेमकी प्राप्ति हो जाय। साधारणतः प्रेमोदय निम्नलिखित क्रमसे होता है—१ श्रद्धा, २ साधुसंग, ३ भजनक्रिया, ४ अनर्थ-निवृत्ति, ५ निष्ठा, ६ रुचि, ७ आसक्ति, ८ भाव और

९ प्रेम। प्रेमोदय हो जानेपर भक्तोंमें पाँच प्रकारके स्वभाव हो सकते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इन पाँचों प्रकारके भक्तोंकी भगवद्विषयिणी रति भी पाँच प्रकारकी होती है। यथ —

स्वभावका नाम	रतिका नाम
शान्त	शान्ति
दास्य	प्रीति
सख्य	प्रेम
वात्सल्य	अनुकम्पा
मधुर	कान्ता या मधुरा

काव्य-शास्त्रके अनुशीलन करनेवाले रस-शास्त्रियोंके बताये हुए सात रस अर्थात् शृंगार और शान्तको छोड़कर शेष (हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स) इस भगवत्प्रेमके सहायक होकर गौण रस नाम ग्रहण करते हैं। शृंगार और शान्तरस ऊपर बताये हुए पाँच स्थायी भावोंका आश्रय करते हैं। पर यह न समझना चाहिए कि आलंकारिकोंके शृंगार और शान्त रस वही हैं जो भक्तोंके। दोनोंमें तात्त्विक भेद हैं। पहले जड़ोन्मुख होते हैं, दूसरे (भक्तोंके) चिन्मुख।

यह बात ध्यान देनेकी है कि वैष्णव भक्त भगवान्के निर्विशेषक रूपको (अर्थात् जिसमें व्यक्तिगत संबंधकी कल्पना न की जा सके, ऐसे रूपको) कभी प्रधानता नहीं देते; फिर भी वे शान्त स्वभावके हो सकते हैं। भक्तिके लिए केवल निर्विशेष ब्रह्मसे काम नहीं चल सकता, उसके सविशेषक रूपकी जरूरत रहती है। इसीलिए शमयुक्ता बुद्धि वह है जहाँ भक्त केवल इतना समझ सका है कि भगवान् केवल निर्गुण और निर्विशेष नहीं हैं बल्कि उनके साथ उसका व्यक्तिगत योग है। भगवत्तत्त्वमें उसकी जड़बुद्धि लोप हो गई रहती है। वह विषयोन्मुखताका त्याग कर अपने आपमें रमने लगता है। निर्गुण मतके भक्त इसी श्रेणीके थे। कबीर-दासका 'कमलकुआम ब्रह्मरस पीओ बारंबार' वाली समाधि, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, इसी श्रेणीकी है। यह रस वहीं सम्भव है जहाँ भगवद्विषयक निर्विशेषता समाप्त हो गई हो। इसीलिए यद्यपि भक्त इस अवस्थामें आत्माराम होता है अर्थात् अपने आपमें ही रमता रहता है फिर भी उसका उपास्य निर्गुण ब्रह्म नहीं होता। सनक सनन्दन आदि भक्तगण इसी श्रेणीके थे। किन्तु ब्रज-

लीलाके वर्णनमें शान्त रसका कोई स्थान नहीं है। इसीलिए श्रीकृष्ण-लीलाके गायक भक्तोंने इस रसका विशेष गान नहीं किया।

दास्य स्वभावका प्रीतिरस दो प्रकारका होता है, संभ्रमगत और गौरवगत। भगवान्‌के ऐश्वर्य-स्वरूपके प्रति संभ्रम और मुग्धताका भाव रखनेवाले भक्त इसी श्रेणीमें आते हैं। दास्य रसका विषयरूप आलम्बन, भगवान्‌का वह ऐश्वर्य रूप है जिसके इशारेपर माया कोटि कोटि ब्रह्माण्डकी सृष्टि करती है, जो राजाओंके भी राजा हैं, जिनकी शक्तिका एक एक कण विश्वको उद्भासित करता है और जो सत्य, न्याय और शुभ कर्म आदिके आकर हैं। भगवान्‌के इसी ऋद्धिसिद्धिसेवित रूपके प्रति आकृष्ट भक्त उनका दास होनेका अभिमान करता है। इस रसके आश्रय-रूप आलम्बन चार प्रकारके भक्त हैं—अधिकृत, आश्रित, पारिषद और अनुग।

भगवान्‌को मित्र रूपसे भजन करनेवाले भक्त सख्य स्वभावके होते हैं। श्रीकृष्णके मित्र कई श्रेणीके थे, उनमें ब्रजवासी मित्र ही अधिक श्रेष्ठ समझे जाते हैं। क्योंकि इन मित्रोंको भगवान्‌के द्विभुज मानवरूपके अगोचर विराट् रूपका भान कभी नहीं हुआ इसलिए उनकी मित्रताके संभ्रम या गौरवका कहीं प्रवेश नहीं हुआ। इसीलिए वे दास्य आदि भावोंसे सदा ऊपर रहे। वे भी चार प्रकारके हैं—सुहृद्, सखा, प्रिय-सखा और प्रिय-नर्म-सखा। सुहृद् वे थे जो श्रीकृष्णसे उमरमें बड़े थे; सखाओंके प्रेममें वात्सल्यका मिश्रण था; प्रिय-सखा श्रीकृष्णकी क्रीड़ाके साथी थे और प्रिय-नर्म-सखा ब्रजसुन्दरियोंके साथ भगवान्‌की प्रेम-लीलामें उनका पक्ष समर्थन करते थे।

१. सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया । पाइ जासु बल विचरति माया ॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा । पालत मुजत हरत दससीसा ॥
जा बल सीस धरत सहसानन । अंडकोस समेत गिरै कानन ॥
धरै जो विविध देह सुरत्राता । तुम्हसे सठन्ह सिखावनदाता ॥
हर-कैवंड कठिन जेहि भंजा । तोहि समेत नृपदल-भद गंजा ॥
सर दूषन त्रिसिरा अरु बाली । बघे सकल अतुलित बलसाली ॥
जाके बल लबलेसते जितेउ चराचर स्मारि ।
तासु दूत हौं जाहिकी हरि आनेसि प्रिय नारि ॥

—रामचरितमानस

२ विशेष विस्तारके-लिए 'भक्ति-रसामृत-सिंधु' द्रष्टव्य है।

श्रीकृष्णके गुरुजन वात्सल्य भावसे उनसे प्रेम करते थे। इस प्रकार भजन करनेवाले मक्त वात्सल्य स्वभावके होते हैं। मधुर रस सबसे श्रेष्ठ है। इसे उज्ज्वल रस भी कहते हैं। इसका आश्रयरूप आलंबन व्रजसुन्दरियों थीं। आचार्योंने इसका विस्तृत विवेचन भक्तिरसामृतसिन्धु आदि ग्रन्थोंमें किया है। इस रसका सबसे श्रेष्ठ आलंबन श्री राधिका हैं। बिहारी कविने “ज्यों ज्यों भीजे प्रेम-रस त्यों त्यों उज्ज्वल होय” उक्तिमें इसी परम-रसकी ओर इशारा किया है। इस विषयका कुछ विस्तृत विवेचन हमने अपने ‘सूर-साहित्य’ में किया है।

इन पाँच रसोंके उत्कर्षाकर्षका विचार भी किया गया है पर इसमें मत-भेद है। श्रीकृष्ण रूपके उपासकोंका कहना है कि शान्त रस सबसे नीचे है, उसके ऊपर दास्य, उसके ऊपर सख्य, फिर वात्सल्य और सबके ऊपर मधुर या उज्ज्वल रस है। यह भी बताया गया है कि लोकमें यह रस सर्वथा उलटा है, क्योंकि यह जगत् मायाके दर्पणके प्रतिबिम्बके समान है जिसमें हम जब रूपमें भगवान्की छाया देख रहे हैं। दर्पणमें जो चीज़ सबसे ऊपर दिखती है वह असलमें सबसे नीचे होती है और जो सबसे नीचे दिखती है वह वस्तुतः सबके ऊपर रहती है। इसीलिए मधुर रस जब भगवद्विषयक होता है तो सबके ऊपर रहता है और जब जड़विषयक होकर जूगार रस नाम ग्रहण करता है तो सबके नीचे पड़ जाता है।

गोस्वामी तुलसीदासने अपने ग्रंथोंमें इस तत्त्वका प्रत्याख्यान तो नहीं किया पर अप्रत्यक्ष रूपसे, मानों प्रत्याख्यान करनेके ही उद्देश्यसे, प्रसंग आते ही वे दास्य या प्रीति रतिकी स्तुति कर जाते हैं। इस प्रकारके एक प्रसंगपर वे कहते हैं, सेवक-सेव्य भावके बिना संसार तरना असंभव है, ऐसा विचार कर राम-पदका भजन करना चाहिए। एक दूसरे प्रसंगपर भगवान् स्वयं अपना सिद्धान्त बताते हुए कहते हैं कि जीवोंमें मुझे सबसे प्रिय मनुष्य हैं; उनमें भी ब्राह्मण, उनमें भी वेदज्ञ, उनमें भी निगम धर्मानुयायी, उनमें भी विरक्त, उनमें भी ज्ञानी, उनमें भी विज्ञानी और इन सबसे अधिक प्रिय मेरा वह दास है जिसे मेरी गति छोड़ और आशा नहीं। मैं जोर देकर सत्य सत्य कह रहा हूँ

१ वागुनकी परछाँह री माया-दर्पण बीच ।

गुनते गुन न्यारे भये अमल वारि जल कीच ॥

सखा सुनु श्यामके । —नंददास

कि मुझे सेवकसे अधिक कोई प्रिय नहीं^१। इस विषयमें तुलसीदास श्रीरामानुजाचार्यके अधिक नजदीक जाते हैं। महात्मा तुलसीदासके इस दृष्टि-कोणके कारण समूचे राम-परक साहित्यका स्वर एक विशेष रूपसे प्रभावित हुआ है। मधुर-भावकी साधनामें छोटे-बड़ेका सवाल नहीं उठता। वहाँ ऐश्वर्य-बोध जितना ही कम होगा मधुर भावकी अनुभूति उतनी ही तीव्र होगी। पर दास्य-भावमें ऐश्वर्य-बोधका होना बहुत आवश्यक है। इसीलिए गतिके लिए भक्तको भगवान् के तीन रूपोंपर बहुत अधिक जोर देना पड़ता है। उनका (१) क्षमावान् रूप, (२) शरणागत-वत्सल रूप और (३) कृष्णायतन रूप। इन स्वरूपोंके द्वारा भगवान् भक्तोंके बड़ेसे बड़े पातकको भी क्षमा कर देते हैं, उनके सामने जाते ही करोड़ों जन्मके पार नष्ट होजाते हैं, उनकी शरणमें जानेपर भक्त कृतकृत्य हो जाता है और उसके सभी परिताप जाते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासने अपने ग्रंथोंमें बार बार इन स्वरूपोंका उल्लेख किया है। मधुर भावसे भोजन करनेवाले

१ सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबतैं अधिक मनुजमोहि भाये।
तिन्हमैंह द्विज द्विजमैंह श्रुतिधारी। तिन्हमैंह निगम-धर्म अनुसारी ॥
तिन्हमैंह प्रिय विरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुँते अति प्रिय बिग्यानी।
तिन्हतैं पुनि मोहि प्रिय निजदासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥

—रामचरितमानस

२ (क) मैं जानहुँ विजनाधनुसाज। अपराधिहुपर कोप न काज।

और—

दूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी।
तेउ सुनि सरन सामुह आये। सकत प्रनामु किये अपनये ॥

(ख) जौ नर होइ चराचरदोही। आवइ सरन समय तकि मोही।
तजि मद मोह कपट छरु नाना। करउं सद्य तेहि साधु समाना ॥

और—

कोटि विप्र वध लागइ जाहू। आये सरन तजौं नहिं ताहू ॥

(ग) ऐसी को उदार जगमाहीं।

बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर रामसरिस कोउ नाहीं। —वितथपयिका

भक्तोंके साथ इन भक्तोंका इसी दृष्टि-विशेषके कारण बहुत अन्तर हो गया है। मधुर भावसे भजन करनेवाले भक्तके लिए उनकी लीलायें ही प्रधान स्मर्तव्य हैं, उनकी भृंगार-चेष्टायें, उनकी विलास-लीलायें, उनकी प्रेम-गाथायें ही गेय हैं; पर दास्य-भावसे भजन करनेवालेके लिए ऐश्वर्य भाव बहुत जरूरी है। जब तक भगवान्‌के ऐश्वर्य रूपको वह सदा स्मरण नहीं करता रहता तब तक उसमें दैन्य आदि भाव तीव्र रूपमें नहीं प्रकट होते। यही कारण है कि हिन्दीका कृष्णपरक साहित्य ऐहिक लीलासे भरा हुआ और आसुष्मिक चिन्तासे इतना मुक्त है। राम-साहित्यमें ऐश्वर्य-बोधकी प्रबलता होनेके कारण उसमें ऐहिक लीलाओंका प्राधान्य हो ही नहीं सकता। गोस्वामी तुलसीदासजीके राम-चरित-मानसमें इसी-लिए हर प्रसंगपर भगवान्‌के ऐश्वर्य-रूपका स्मरण करा दिया जाता है। इस ऐश्वर्य-रूपका वर्णन करते समय तुलसीदास अघाते नहीं दिखते *। दास्य-भावसे भजन करनेवाले भक्तोंके इस विशेष दृष्टिकोणकी प्रशंसा न कर सकनेवाले आलोचकोंने कभी कभी रामायणकी कथामें ऐश्वर्य-रूपके वर्णनके आधिक्यको कवित्वका परिपंथी बताया है और यह व्यवस्था दी है कि ऐसा करके तुलसीदास कवि-धर्मसे च्युत हुए हैं। ऐसे आलोचकोंको मधुर-भावके भक्तोंकी रचनामें स्वभावतः ही काव्यकी परिपंथी वृत्तियाँ नहीं दिखनी चाहिए, पर वहाँ भी कभी कभी अनुचित अश्लीलता दिख जाती है। ये दोनों तथा-कथित दोष काव्यके परिपंथी या सहायक हों या न हों, दोनों प्रकारके भक्तोंके विशेष दृष्टि-कोणोंको निश्चित रूपसे प्रकट करते हैं।

* जो गति जोग विरग जतन करि, नहिं पावहिं मुनि ज्ञानी ।

सो गति देत गीध सबरीकहँ, प्रभु न अधिक जिय जानी ॥ इत्यादि

और—

ऐसे राम दीनहितकारी

अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन परठपकारी ।

साधनहीन दीन निज अववस सिला भई मुनिनारी,

गृहतें गवनि परासि पद-पावन, घोर सापसे तारी ।...

मध्य-युगके सन्तोंका सामान्य विश्वास

मध्ययुगके सन्तोंमें मत, साधना-पद्धति और आचार-विचारसम्बन्धी नाना-मतभेदोंके साथ भी एक साम्य है। इसी साम्यके कारण मध्य-युगका सारा भक्ति-साहित्य एक विशेष श्रेणीका साहित्य हो सका है। कुछ बातें ऐसी थीं जो प्राचीनतर साधकोंमें वर्तमान थीं और मध्य-युगके सभी साधकों और सन्तोंने उन्हें समान भावसे पाया था।

सबसे पहली बात जो इस सम्पूर्ण साहित्यके मूलमें है, यह है कि भक्तका भगवान् के साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान् या ईश्वर इन भक्तोंकी दृष्टिमें कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है बल्कि एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है। निर्गुण मतके भक्त हों या सगुण मतके, भगवान् के साथ उन्होंने कोई न कोई अपना सम्बन्ध पाया है। निर्गुणमतवादियोंमें श्रेष्ठ कबीर कह सकते हैं—‘हे भगवान् ! तू मेरी माँ है, मैं तेरा बालक हूँ; मेरा अवगुण क्यों नहीं बख्श देता ? पुत्र तो बहुतसे अपराध करता है, किन्तु माँके मनमें वे बातें नहीं रहतीं। बालक अगर उसके केश हाथोंमें पकड़कर उसे मारे भी तो माता बुरा नहीं मानती। बालकके दुखी होनेपर वह दुखी होती है’।^१ इसी प्रकार दादू कह सकते हैं—‘हे केशव ! तुम्हारे बिना मैं व्याकुल हूँ, मेरी आँखोंमें पानी भर

१. हरि जननी, मैं बालक तेरा । काहे न औगुन बगसहु मेरा ॥

सुत अपराध करे दिन केते । जननीके चित रहे न तेते ॥

कर गहि केस करे जो घाता । तऊ न हेत उतरै माता ॥

कहे कबीर एक बुद्धि बिचारी । बालक दुखी दुखी महतारी ॥

आया है; हे अन्तर्यामी, तुम अगर छिपे रहोगे तो मैं कैसे बच सकता हूँ? तुम स्वयं छिप रहे हो, मेरी रात कैसे कटेगी? तुम्हारे दर्शनके लिए जी तड़प रहा है।' सूरदास कह सकते हैं—'तुम्हारी भक्ति ही मेरे प्राण हैं, अगर यही छूट गई तो भक्त जियेगा कैसे? पानी बिना प्राण कहीं रह सकता है?'

लोग कबीर आदि भक्तोंको 'ज्ञानाश्रयी,' 'निर्गुनिया' आदि कहते हैं। वे प्रायः भूल जाते हैं कि निर्गुनिया होकर भी कबीरदास भक्त हैं और उनके 'राम' वेदान्तियोंके ब्रह्मकी अपेक्षा भक्तोंके भगवान् अधिक हैं। अर्थात् केवल सत्ता केवल ज्ञानमयतासे भिन्न व्यक्तिगत ईश्वर हैं। इसीलिए कबीरदास आदि भक्त ज्ञानी होते हुए भी प्रेममें विश्वास रखते हैं।

उस युगके इस रहस्यको समझनेके लिए सगुण-भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंकी कुछ बातें समझनी पड़ेंगी। भागवतमें एक श्लोक आता है जिसमें बताया गया है कि अखण्डानन्दस्वरूप तत्त्वके तीन रूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। जो ज्ञानाश्रयी भक्त भगवान्के केवल चिन्मय रूपका साक्षात्कार करते हैं वे उसके एक अंशमात्रको जानते हैं और अपने ज्ञानके द्वारा उस चिन्मय अंशमें लीन होनेका दावा करते हैं। यही केवलज्ञानस्वरूप ब्रह्म कहा जाता है। इस मतमें ज्ञान निराकार होता है और ज्ञाता और ज्ञेयके विभागसे रहित होता है। दूसरा स्वरूप परमात्माका है। इस रूपके उपासकोंमें शक्ति और शक्ति-मान्का भेद ज्ञात रहता है। यह स्वरूप योगियोंका आराध्य है। किन्तु भक्तोंके भगवान् परिपूर्ण सर्वशक्तिविशिष्ट हैं। भक्त ही भगवान्की सारी शक्तिके रसका

१. तुम बिन व्याकुल केसवा, नैन रहे जल पूरे ।
अन्तरजामी छिप रहे, हम क्यों जीवें दूरि ॥
आप अपरछन होइ रहे, हम क्यों रैन बिहाइ ।
दादू दरसनकारने तलाफि तरुफि जिय जाइ ॥
२. तुम्हारी भक्ति हमारे प्राण ।
छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्राण ॥
३. वेदान्ति तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥

—भा० ३।२।११

इसपर श्रीजीवगोस्वामीका कम-सन्दर्भ और बल्लभाचार्यकी सुबोधिनी देखिए।

अनुभव कर सकता है, इसीलिए भक्तकी सबसे बड़ी कामना यह है कि वह भगवान्‌का प्रेम प्राप्त करे। मोक्षको, अर्थात् भगवान्‌के एक अंशमें लीन हो जानको, वह कभी पसन्द नहीं करता। मोक्ष उसके मतसे परम पुरुषार्थ नहीं है, प्रेम ही परमपुरुषार्थ है—‘प्रेमा पुमर्थो महान्’। यह दूसरी बड़ी बात है जिसमें उस युगके प्रायः सभी भक्त एकमत हैं। इसको वे नाना रूपमें कहते हैं। कोई कहता है—‘हे भगवान् ! मुझे दर्शन दो, मुझे तुम्हारी मुक्ति नहीं चाहिए। हे गोविन्द ! मुझे ऋद्धि सिद्धि नहीं चाहिए, मैं तुम्हींको चाहता हूँ। हे राम ! मैं योग नहीं चाहता, भोग नहीं चाहता, मैं तुम्हींको चाहता हूँ। हे देव ! मैं घर नहीं माँगता, वन नहीं माँगता, मैं तुम्हींको माँगता हूँ। मैं और कुछ नहीं माँगता, केवल दर्शन माँगता हूँ।’” कोई कहता है, ‘न मुझे धर्म चाहिए, न अर्थ चाहिए, न काम चाहिए और न निर्वाण ही चाहिए। मैं यही वरदान माँगता हूँ कि जन्म-जन्म रघुपतिकी भक्ति मिले’।” कोई दूसरा बताता है कि ‘आठों सिद्धि और नवों निधिका सुख वह नन्दकी गाय चराकर बिसार सकता है, करोड़ों कलघौतके धाम करीलके कुंजोंपर कुर्बान कर सकता है, कामरी और लकुटिया उसे मिल जाय तो त्रैलोक्यका राज्य वार सकता है’^३।’

१. दरसन दे दरसन देहों तो तेरी मुक्ति न माँगों रे ।
सिधि ना माँगों रिधि ना माँगों तुम्हहीं माँगों गोविदा ॥
जोग न माँगों भोग न माँगों तुम्हहीं माँगों रामजी ।
घर नहिमाँगों वन नहि माँगों तुम्हहीं माँगों देवजी ॥
‘दादू’ तुम्ह बिन और न जानै दरसन माँगों देहु जी ।

२. अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहौं निरबान ॥
जनम जनम रघुपति-भगति, यह वरदान न आन ।

—तुलसीदास

३. या लकुटी अरु कामरियापर राज तिहूँ पुरको तजि डारौं ।
आठहु सिद्धि नबो निधिकौ सुख नंदकी धेनु चराइ बिसारौं ॥
आँखिनसाँ रसखानि कबै ब्रजके वन बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिन हूँ कलघौतके धाम करीरके कुंजन ऊपर बारौ ॥—रसखान

इसीलिए भक्तकी परम साधना है भगवान् के साथ लीला। भक्तोंमें अपनी उपासना-पद्धतिके अनुसार इस लीलाके रूपमें भेद हो सकता है, पर सबका लक्ष्य यह लीला ही है। जो भक्त दास्य-भावसे भजन करता है वह भगवान् की अनन्त-काल तक पद-सेवा करना चाहता है और जो मधुर भावसे भजन करता है वह गोलोकमें अनवरत विहारकी कामना करता है। जो निर्गुण भावसे भजन करता है वह भी भगवान् की चिन्मय सत्तामें विलीन हो जानेकी इच्छा नहीं रखता बल्कि अनन्त कालतक उसमें रमते रहनेकी लालसा करता है। इस प्रकार दादू भगवान् के साथ नित्य लीलामें रत हैं। 'प्रियसे रंग भरके खेलता हूँ, जहाँ रसीली वेणु बज रही है। अखण्ड सिंहासनपर प्रेम-न्याकुल स्वामी बैठे हैं और प्रेम-रसका पान करा रहे हैं। रंग भरके प्रियके साथ खेल रहा हूँ, यहाँ कभी वियोगकी आशंका नहीं है। यह कुछ पूर्वका संयोग है कि आदिपुरुष अन्तरमें मिल गया है। रंग भरके प्रियसे खेल रहा हूँ, यहाँ बारहों मास वसन्त है। सेवकको सदा आनन्द है कि युगयुग वह कान्तको देखता है^१।' कबीरदासजी कहते हैं कि 'हाय, मेरे वे दिन कब आवेंगे जब मैं अंग अंग लगाकर मिलूँगी, जिसके लिए मैंने यह देह धारण किया है। वह दिन कब आवेंगे जब तन, मन और प्राणोंमें प्रवेश करके तुम्हारे साथ सदा हिलमिलकर खेलूँगी। हे समर्थ रामराय ! मेरी यह कामना परिपूर्ण करो^२।' यह इस युगकी तीसरी समानधर्मिता है।

१. रँगमरि खेलौ पीवसों तहँ बाजै बेनु रसाल ।
अकल पाट करि बैठ्या स्वामी प्रेम पिलावै लाल ॥
रँगमरि खेलौ पीवसों कबहुँ न होइ वियोग ।
आदिपुरुष अंतरि मिल्या कुछ पूरबके योग ॥
२. रँगमरि खेलौ पीवसों बारह मास बसन्त ।
सेवक सदा अर्नद है जुगि जुगि देखौ कंत ॥—दादूदयाल

२. वे दिन आवेंगे माइ ।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंगि लगाइ ।
हौं जानूँ जे हिलिमिलि खेलूँ तन मन प्राण समाइ ॥
या कामना करौ परिपूरन समर्थ हौ रामराइ ।

—कबीरग्रंथावली

कबीरदास, दादूदयाल आदि निर्गुण-मतवादियोंकी नित्य-लीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण-मतवादियोंकी नित्य-लीला एक ही जातिकी है। अन्तर यही है कि पहली श्रेणीके भक्तोंके सामने भगवान्के व्यक्तिगत सन्निधात्मक रूपके साथ उसकी रूपातीत अनन्तता वर्तमान रहती है और दूसरी श्रेणीके भक्तोंके सामने भगवान् सदा प्रतीकरूपमें आते हैं और इसीलिए उनकी अनन्तता और असीमता ओझल-सी हुई रहती है।

मध्य-युगके भक्ति-आन्दोलनकी एक बड़ी विशेषता यह है कि भक्त और भगवान्को समान बताया गया है। प्रेमका आधार ही समानता है। गुरुको भगवान्का रूप बताया गया है^१। ये दोनों बातें साधारणतः भक्तिके भावावेशमें प्रशंसात्मक अर्थवाद समझी जाती हैं। अर्थात् यह मान लिया जाता है कि भावावेशमें भक्तको भगवान् कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सचमुच भक्त भगवान् है, बल्कि इसका मतलब इतना ही है कि भक्त महान् है। कहीं कहीं तो भक्तको भगवान्से भी बढ़कर बताया है। यह ध्यान देनेकी बात है कि तन्त्र-साधनामें गुरुको शिवके समान स्थान दिया गया है। सहजिया मतके जो बौद्ध दोहे और गान पाये गये हैं उनमें गुरुकी भक्तिके बहुत उपदेश हैं। एक दोहेमें कहा गया है कि गुरु सिद्धसे भी बड़े हैं। गुरुकी बात बिना विचारे ही करनी चाहिए।^२ कबीरदासने भी गुरुको गोविन्दके समान कहा है।^३ असलमें मध्ययुगके भक्ति-साहित्यमें गुरुका स्थान बहुत बड़ा है। वैष्णव भक्तोंके मतसे गुरु दो प्रकारके हैं—शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु। शिक्षा-गुरु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं और सिद्धावस्थामें दीक्षागुरु भी भगवान्के ही तुल्य हैं। कुछ विद्वानोंका खयाल है कि गुरुमहिमा मध्ययुगके साधकोंके अपने पूर्ववर्ती तान्त्रिकों और सहजयानके साधकोंसे उत्तराधिकारके रूपमें मिली थी।

१. भगति भगत भगवंत गुरु, नाम रूप वपु एक।

इनके पद बंदन किये, नासै बिघन अनेक ॥ —भक्तमाल

२. म० म० हरप्रसादशास्त्री —‘बौद्ध गान ओ दोहा’, भूमिका पृ० ६

३. गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार।

आपा भेट जीवत मरै, तौ पावै करतार ॥

—कबीरअन्धावली

इसी तरह इस युगमें भक्तके समान भगवान्को समझनेकी प्रवृत्ति लगभग सभी भक्तोंमें समान रूपसे पाई जाती है। यह भी कहा गया है कि 'रामसे अधिक रामकर दासाः'। इस कथनका अर्थ यह है कि प्रेमकी दुनियामें बड़े-छोटेका कोई सवाल नहीं। भगवान् प्रेमके वशमें हैं। सूरदास कहते हैं कि 'मुरारि प्रेमके वशमें हैं, प्रीतिके कारण ही उन्होंने नटवर-वेश धारण किया। प्रीतिवश ही उन्होंने गिरिराज धारण किया, प्रीतिके वश ही माखन चुराया, प्रीतिके कारण ही उनका सबसे अधिक प्रिय नाम 'गोपी-रवन' है, प्रीतिके वश ही यमल तरुओंको मोक्ष दिया।' +अधिकतर इस भावका विकास सगुणोपासक भक्तोंमें ही पाया जाता है, पर निर्गुण मतवादी भक्त भी इस बातपर कम जोर नहीं देते। दादू कहते हैं कि 'साधुकी रुचि है राम जपनेकी और रामकी रुचि है साधुको जपनेकी। दोनों ही एक भावके भावुक हैं, दोनोंके आरम्भ समान हैं, कामनाएँ समान हैं। X' वैष्णव भक्तोंमें कहानी मशहूर है कि एक बार भगवान्ने रुक्मिणीसे भोजनमें कहा कि मैं तुम्हें हर ले आया था, तुम्हारा वास्तविक प्रेमी कोई दूसरा

॥ पश्चात्तर खण्डमें (विष्णुसे भी वैष्णवकी पूजा श्रेष्ठ है।)

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराधनं परम् ।

तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम् ॥

और—

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान् नार्चयेत्तु यः ।

न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दैर्घ्यिकः स्मृतः ॥

—भागवत ११। १९। २१

+ प्रीतिके वशमें हैं मुरारी ।

प्रीतिके वश नटवर-वेश धरयो प्रीतिवश करन गिरिराज धारी ।

प्रीतिके वश भये माखन चोर प्रीतिके वश दावरी बँधाई ॥

प्रीतिके वश गोपीरवन प्रिय नाम प्रीतिके वश तरु यमल मोक्षदाई ॥

—इत्यादि

X राम जपै रुचि साधुको, साधु जपै रुचि राम ।

दादू दोनों एक हैं, सम आरंभ सम काम ॥

था, मैं तुम्हें उसी प्रेमीको लौटा देना चाहता हूँ। रुक्मिणी रोने लगीं। ठीक इसी प्रकारका मजाक एक बार भगवान् ने राधिकासे किया। राधिका ने मजाकका जवाब दूसरे मजाकसे दिया। इस कथाका प्रयोजन प्रेमका तारतम्य दिखाना है। रुक्मिणी प्रेमकी दुनियामें सम्पूर्ण रूपसे न आ सकी थीं, उनके अन्दर ऐश्वर्य-बुद्धि अर्थात् पूज्य-पूजकका, बड़े-छोटेका भाव वर्तमान था; पर राधिका सोलहों आने प्रेममयी थीं, वहाँ बड़े-छोटेका सवाल ही नहीं था। अष्ट-छापके सभी कवियोंमें इस बातका बहुत सुन्दर विकास हुआ था।

प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। सूरदास कहते हैं कि प्रेम प्रेमसे ही होता है, प्रेमसे ही भवसागर पार किया जा सकता है; प्रेमके बन्धनमें ही सारा संसार बँधा है, एक प्रेमका निश्चय ही रसीली जीवन्मुक्ति है, प्रेमका निश्चय ही सत्य है जिससे गोपाल मिलते हैं।^१

दादू कहते हैं, 'प्रेम ही भगवान् की जाति है, प्रेम ही भगवान् की देह है। प्रेम ही भगवान् की सत्ता है, प्रेम ही भगवान् का रंग। विरहका मार्ग खोजकर प्रेमका रास्ता पकड़ो, लौके रास्ते जाओ, दूसरे रास्ते पैर भी न रखना'।^२ कबीरदास कहते हैं कि 'स्वामी और सेवक एकमत हैं, दोनों मन ही मन (प्रेमसे ही) मिलते हैं। वह चतुराईसे प्रसन्न नहीं होता, मनके भावसे रीझता है।' तुलसी दास कहते हैं कि 'भगवान् भक्तपर ऐसी प्रीति करते हैं कि अपनी प्रभुता भूलकर भक्तके वश हो जाते हैं; वह सदाकी रीति है'।^३

१ श्री मद्भागवतमें यह कथा बहुत ही सुन्दर है। कल्याणमें प्रकाशित हो चुकी है।

२ प्रेम प्रेमसां होय प्रेमसां पारहिं जैये।

प्रेम बँधो संसार प्रेम परमारथ पैये ॥

एकै निश्चय प्रेमका जीवन्मुक्ति रसाल।

संचो निश्चय प्रेमको जति मिलै गोपाल ॥

३ इश्क अलहकी जाति है इश्क अलहका खँग।

इश्क अलह औजूद है इश्क अलहका रंग ॥

वाट विरहकीसोधि करि पंथ प्रेमका लेहु।

दबके मारग जाइये दूसर पाँव न देहु ॥

४ ऐसी हरि करत दासपर प्रीति।

निज प्रभुता बिसरि जनके बस होत, सदा यह रीति।

भक्त और भगवान्की तरह भक्ति भी अपरम्पार महिमामयी है। दादू-दासने कहा कि जैसे राम अपार हैं, भक्ति भी उसी प्रकार अगाध है। सभी साधुओंने पुकार पुकारकर कहा है कि इन दोनोंकी कोई सीमा नहीं है। जिस प्रकार राम अविगत हैं, भक्ति भी उसी प्रकार अलेख्य है, दोनोंकी कहीं सीमा नहीं है, यह शेष हजार मुँहसे कह रहे हैं। राम जैसे निर्गुण हैं, भक्ति भी वैसी ही निरञ्जन है, इन दोनोंकी कोई सीमा नहीं है, ऐसा संतोंने निश्चय किया है। जैसे पूर्ण राम हैं ठीक उसी प्रकार भक्ति भी पूर्ण है, इन दोनोंकी कोई सीमा नहीं है, ये दोनों दो चीजें भी नहीं हैं।^१ इस प्रकार इस युगका साहित्य भक्ति, भक्त, भगवान् और गुरुकी महिमासे भरा पड़ा है।

इस युगके सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके मतके सन्तोंने नामकी महिमा खूब गाई है। नाम-माहात्म्य भागवत आदि प्रायः सभी पुराणोंमें पाया जाता है, पर मध्य-युगके भक्तोंमें इसका चरम विकास हुआ है। तुलसीदासने कहा है कि ब्रह्म और राम अर्थात् निर्विशेष चिन्मयसत्ता और अखण्डानन्त प्रेम स्वरूप भगवान् इन दोनोंमें नाम बड़ा है।^२

रामचरितमानसके आरम्भमें ही विस्तारपूर्वक बताया गया है कि रामकी अपेक्षा रामका नाम अधिक उपकारी है। कबीरने भी कहा है कि 'मैं भी कह रहा हूँ, ब्रह्मा और मद्देशने भी कहा है कि राम-नाम ही सारतत्त्व है। भक्ति और भजन जो कुछ भी है वह रामनाम ही है; और सब दुःख है।

१. जैसा राम अपार है तैसी भगति अपार ।
इन दोनोंकी मित नहीं सकल पुकारें साध ॥
जैसा अविगत राम है तैसी भगति अलेख ।
इन दोनोंकी मित नहीं सहसमुखी कहै सेख ॥
जैसा निरगुन राम है भगति निरञ्जन जान ।
इन दोनोंकी मित नहीं संत कहैं परवान ॥
जैसा पूरा राम है पूरन भगति समान ।
इन दोनोंकी मित नहीं दादू नाहीं आन ॥

२. ब्रह्म-रामते नाम बड़ वरदायक वरदानि ।
रामचरित सत कोटि महुँ लिय मद्देस जिय जानि ॥